आर्यों के सोलह संस्कार

सम्पादक
ज्ञानेश्वरार्यः एम.ए., दर्शनाचार्य

प्रकाशक
दर्शन योग महाविद्यालय

॥ ओ३म् ॥

आर्यों के सोलह संस्कार

सम्पादक :

ज्ञानेश्वरार्य :

एम.कॉम., दर्शनाचार्य

प्रकाशक

दर्शन-योग महाविद्यालय

आर्य वन, रोजड़, पो. सागपुर,

जि. साबरकांठा, गुजरात - ३८३ ३०७.

दूरभाष : (०२७७४) २७७२१७, (०२७७०) २५७२२४, २८७४१७

वानप्रस्थ साधक आश्रम : (०२७७०) २५७२२०

E-mail : darshanyog@icenet.net

E-mail : namaste@darshanyog.org

Website : www.darshanyog.org

अनुक्रमणिका

प्रकाशन तिथि - मार्च-२००६,
फाल्गुन २०६२ विक्रमी

सृष्टि संवत - १,९६,०८,५३,१०६

संस्करण - अष्टम

लागत व्यय - ४ रुपये लगभग

मुद्रक : आकृति, अहमदाबाद. दूरभाष : (०७९) २२९१०४६७

आर्यों के सोलह संस्कार

जिस क्रिया से शरीर, मन और आत्मा उत्तम हो उसको संस्कार कहते हैं। संस्कार किसी वस्तु के पुराने स्वरूप को बदल कर उसे नया स्वरूप दे देता है। जैसे सुनार अशुद्ध सोने को अग्नि में तपाकर उसे शुद्ध बना देता है, वैसे ही वैदिक संस्कृति में उत्पन्न होने वाले बालक को संस्कारों की भट्टी में डालकर उसके दुर्गुणों को निकाल कर उसमें सद्गुणों को डालने का प्रयास किया जाता है, इसी प्रयत्न को संस्कार कहते हैं।

चरक ऋषि ने कहा है - **'संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते'** अर्थात् पहले से विद्यमान दुर्गुणों को हटाकर उनकी जगह सद्गुणों का आधान करने को संस्कार कहते हैं।' बालक का जब जन्म होता है तब वह दो प्रकार के संस्कार अपने साथ लेकर आता है। एक प्रकार के संस्कार तो वे हैं, जिन्हें वह जन्म-जन्मान्तरों से अपने साथ लाता है, दूसरे प्रकार के संस्कार वे हैं, जिन्हें वह अपने माता-पिता के संस्कारों के रूप में वंश परम्परा से प्राप्त करता है। ये अच्छे भी हो सकते हैं, बुरे भी हो सकते हैं। संस्कारों द्वारा मानव के नव निर्माण की योजना वह योजना है, जिसमें बालक को ऐसे वातावरण से घेर दिया जाए, जिसमें अच्छे संस्कारों को पनपने का अवसर प्राप्त हो और बुरे संस्कारों को वे चाहे पिछले जन्मों के हों, चाहे माता-पिता से प्राप्त हुए हों, चाहे इस जन्म में पड़ने वाले हों, उन्हें निर्बीज कर दिया जाए। हमारी अन्य योजनाएँ भौतिक योजनाएँ होती हैं, पर संस्कारों की योजना आध्यात्मिक योजना है। वैदिक संस्कृति का मूल ध्येय उस मानव का आध्यात्मिक निर्माण करना है जिसके लिए बांध बांधे जाते हैं, नहरें खोदी जाती हैं।

जो देश उन्नति करने लगता है, वह योजनाओं का तांता सा बांध देता है, कोई पंचवर्षीय योजनाएं बनाता है, कोई दस वर्षीय। परन्तु क्योंकि हमारी दृष्टि आधिभौतिक जगत् तक सीमित है, इसलिए हमारी योजनाओं का उद्देश्य बांध बांधना, नहरें खोदना, सड़कें बनाना तथा रेलें बिछा देना मात्र रह जाता है। हम भौतिकवादी दृष्टिकोण के कारण समझे बैठे हैं कि मानव का सबसे बड़ा प्रश्न

रोटी का प्रश्न है। रोटी का प्रश्न हल हो गया, तो दुनिया के सब प्रश्न हल हो गए। बांधों-नहरों से उत्पादन बढ़ गया, तो दूसरी कोई समस्या नहीं रही। भौतिकवादी समझ में मानव भूख-प्यास का पुतला है, इसके सिवाय कुछ नहीं। वैदिक विचारधारा मानव को शरीर मात्र नहीं मानती। इसमें संदेह नहीं कि बांध बांधने, नहरें खोदने, सड़कें बनाने तथा रेलें बिछाने की योजनाएं भी चलनी चाहिए। परंतु आध्यात्मिक दृष्टि से ये योजनाएं अत्यंत प्रारंभिक योजनाएं हैं, मानव के नव निर्माण की वैदिक दृष्टि से आधारभूत योजना का श्रीगणेश भी नहीं।

वैदिक संस्कृति की वास्तविक योजना, वह योजना जिसके लिए इस संस्कृति ने जन्म लिया, संस्कारों द्वारा मानव का नव निर्माण करना है। हम बांध बांधते हैं, नहरें खोदते हैं, सड़कें बनाते तथा रेलें बिछाते हैं। परंतु वह मानव जिसके लिए यह सब कुछ करते हैं, वह कहाँ है ? उसके लिए हमने पंचवर्षीय या दस वर्षीय कौन सी योजना बनाई है ? रेलों का तांता बिछ जाए, मोटरें घर-घर पहुंच जाएं, जमीन के चप्पे-चप्पे पर पानी चला जाए, उत्पादन असीम हो जाए, परंतु इन सब का उपयोग करने वाला मानव अगर सच्चा न हो, ईमानदार न हो, दूसरों के दुःख में दुःखी और सुख में सुखी होने वाला न हो, दुराचारी हो, भ्रष्टाचारी हो, व्यभिचारी हो, तो ये रेल-मोटर, ये नहरें और ये बांध किस कांम आएंगे ? और क्या, ऐसा हो नहीं रहा ? क्या चारों तरफ चकाचौंध कर देने वाले वैभव की बढ़ती के साथ-साथ उस मानव का जिसके लिए यह संपूर्ण वैभव खड़ा किया जा रहा है, दिनों दिन पतन नहीं हो रहा ? मानव कहां है? कहां है वह मानव जिसमें मानवीयता हो ? वह मानव जो प्रलोभनों के प्रचण्ड बवण्डर उठ खड़े होने पर उसे तिनकों की तरह परे फेंक दे ? वैदिक-संस्कृति की सबसे बड़ी योजना, और उस योजना का केन्द्र बिंदु, संस्कारों द्वारा मानव का नव निर्माण है।

वैदिक संस्कृति ने मानव के निर्माण की योजना को तैयार किया था। इसी योजना को सफल बनाने के लिए संस्कारों की पद्धति को प्रचलित किया था। संस्कारों से ही तो मनुष्य बनता है। आत्म-तत्त्व, जन्म-जन्मान्तरों में किस-किस प्रक्रिया में से गुजरा है ? हर जन्म में इस पर संस्कार पड़ते हैं, अच्छे या बुरे - यही तो इस जन्म की, पिछले जन्मों की और अगले जन्मों की कहानी है। इस संस्कृति में मनुष्य जन्म का उद्देश्य शुभ संस्कारों द्वारा 'आत्म-तत्त्व' के मैल को धोना है, उसे निखारते जाना है। पिछला मैल कैसे धोया जाए, और नया रंग कैसे चढ़ाया जाए ? यह सब कुछ इस जन्म के संस्कारों द्वारा

ही तो हो सकता है। इस जन्म में बंधकर ही तो आत्म-तत्त्व पकड़ में आता है। बर्तन हाथ से पकड़कर मंजता है, आत्मा का शरीर में बंधकर मैल धुलता है, मानव शरीर में बंधकर ही उस पर शुभ संस्कारों का नया रंग चढ़ता है। जिस समय जिस क्षण आत्मा मानव शरीर के बंधन में पड़ा उसी समय से उसी क्षण से वैदिक संस्कृति उस पर उत्तम संस्कार डालना शुरू कर देती है, और उस क्षण तक डालती चली जाती है जब तक आत्म-तत्त्व शरीर को छोड़कर फिर तिरोहित नहीं हो जाता।

आत्मा जब-जब शरीर में आता है, तब-तब वैदिक संस्कृति की व्यवस्था में संस्कारों की श्रृंखला से उसे ऐसा घेर दिया जाता है, जिससे उस पर कोई अशुभ संस्कार पड़ने ही नहीं पाता। संस्कार तो पड़ने ही हैं, कोई व्यवस्था नहीं होगी तो अच्छों के स्थान में बुरे संस्कार ज्यादा पड़ते जाएंगे, मानव का निर्माण होने के स्थान में मानव का बिगाड़ होता चला जाएगा। व्यवस्था होगी तो संस्कारों का नियमन होगा, अच्छे संस्कार पड़ें, बुरे न पड़ें, इस बात का नियंत्रण होगा तो मनुष्य लगातार मनुष्य बनता जाएगा, स्वयं उठता जाएगा, समाज को उठाता जाएगा। वैदिक संस्कृति की जो विचारधारा है उसके अनुसार यह जन्म, पिछले जन्म व अगले जन्म यह सब संस्कारों द्वारा आत्म-शोधन का सिलसिला हैं, संस्कारों की लगातार चोट से 'आत्म-तत्त्व' पर पड़े मैल को धो डालने का प्रयत्न है।

वैदिक संस्कृति में मनुष्य को बिलकुल बदल देने, उसमें आमूलचूल परिवर्तन करने का जो प्रयास किया जाता है, उसमें दो-चार नहीं सोलह संस्कार हैं। इन संस्कारों का क्रम से नाम निम्न प्रकार है।

१. गर्भाधान संस्कार	९. कर्णवेध संस्कार
२. पुंसवन संस्कार	१०. उपनयन संस्कार
३. सीमन्तोन्नयन संस्कार	११. वेदारम्भ संस्कार
४. जातकर्म संस्कार	१२. समावर्त्तन संस्कार
५. नामकरण संस्कार	१३. विवाह संस्कार
६. निष्क्रमण संस्कार	१४. वानप्रस्थ संस्कार
७. अन्नप्राशन्न संस्कार	१५. संन्यास संस्कार
८. चूड़ाकर्म संस्कार	१६. अन्त्येष्टि संस्कार

१. गर्भाधान संस्कार

वैदिक संस्कृति में गर्भाधान को एक नवीन श्रेष्ठ गुण, कर्म, स्वभाव वाली आत्मा को बुलाने के लिए धार्मिक पवित्र यज्ञ माना जाता है। जैसे अच्छे वृक्ष या खेती के लिए उत्तम भूमि, बीज, खाद, पानी, जलवायु तथा उसकी रक्षा आदि की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है, ठीक ऐसें ही एक बलिष्ठ, श्रेष्ठ संस्कार वाली आत्मा को बुलाने के लिए पति-पत्नी को गर्भाधान से पूर्व ही अनेक प्रकार की तैयारी करनी पड़ती है।

आयुर्वेद के अनुसार गर्भाधान के लिए न्यूनतम आयु पुरुष के लिए २५ वर्ष तथा स्त्री के लिए १६ वर्ष तो होना ही चाहिए, इससे अधिक हो तो और अच्छा है क्योंकि २५ वर्ष पूर्व पुरुष का वीर्य तथा १६ वर्ष पूर्व स्त्री का बीज व गर्भाशय अपरिपक्व होते हैं। अपरिपक्व अवस्था में किया गया गर्भाधान श्रेष्ठ संतान उत्पन्न नहीं कर सकता।

वैदिक मान्यता के अनुसार दम्पत्ति अपनी इच्छानुसार (शास्त्र के निर्देशों का पालन करते हुए) बलवान्, रूपवान्, विद्वान्, गौराङ्ग, वैराग्यवान्, संस्कारों वाली जीवात्मा को प्राप्त कर सकते हैं। इसके लिए ब्रह्मचर्य, उत्तम खान-पान व विहार, स्वाध्याय, सत्संग, दिनचर्या, चिंतन आदि बातों का जैसा योग्य है, वैसा पालन करना पड़ता है। आयुर्वेद विषयक ग्रंथों में ये बातें विस्तार से बतायी गई हैं। उनको देखना चाहिए।

ऐसा सुनते हैं कि विवाह के बाद भगवान् श्रीकृष्ण ने जब रुक्मणी से पूछा कि तुम्हारी क्या इच्छा है तो रुक्मणी ने उत्तर दिया कि मैं आप जैसी सन्तान चाहती हूं। तो भगवान् कृष्ण ने कहा मेरे जैसी सन्तान प्राप्त करने के लिए हम दोनों को १२ वर्ष तक एकान्त स्थान पर ब्रह्मचर्य का पालन करना पड़ेगा, दोनों ने ऐसा ही किया। तब प्रद्युम्न जैसी सन्तान बनी, जो भगवान् कृष्ण के ही समान गुणों वाली थी। ये १२ वर्ष उन्होंने रज-वीर्य की पुष्टि, संस्कारों की श्रेष्ठता आदि गुणों को बढ़ाने के लिए लगाए थे।

इससे स्पष्ट होता है कि गर्भाधान से पहले व गर्भाधान के दौरान जैसी शारीरिक व मानसिक स्थिति माता-पिता की होती है उसका आने वाले बच्चे (आत्मा) पर बहुत प्रभाव पड़ता है। इसी को ध्यान में रखकर ऋषियों ने अनेक प्रकार के विधि निर्देश किए हैं।

उपरोक्त अवस्थाओं के अतिरिक्त गर्भावस्था की दस मास की अवधि भी बहुत महत्त्वपूर्ण है कि इस काल में डाले गए संस्कार जन्म-जन्मान्तर के पुराने संस्कारों को दबा देते हैं। उदाहरण के लिए केशर की डिब्बी व घास के तिनके कुछ दिन के लिए साथ रखे जाएं तो केशर की ही गन्ध उन घास के तिनकों में आने लगती है। इसके विपरीत केशर वाली मिठाई को यदि प्याज की टोकरी में कुछ दिन रखा जाए तो उस मिठाई में प्याज की दुर्गन्ध आने लगती है। गर्भावस्था के काल में गर्भस्थ सन्तान पर जैसे संस्कार डाले जाते हैं, उन्हें फिर बाद में बदलना बहुत कठिन हो जाता है।

२. पुंसवन संस्कार

गर्भ में स्थित जो सन्तान है, चाहे पुत्र हो या पुत्री, वह पौरुषयुक्त अर्थात् बलवान्, हृष्ट-पुष्ट, निरोगी, दीर्घजीवी, तेजस्वी सुंदर हो, यह इच्छा प्रत्येक बुद्धिमान् माता-पिता की होती है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए जब माँ के उदर में गर्भ ठहर जाता है तो उसके २ या ३ मास पश्चात् यह संस्कार किया जाता है।

गर्भ ठहरने के पश्चात् माता को गर्भ की रक्षा, वृद्धि, विकास के लिए विशेष सावधानियाँ रखनी पड़ती हैं। इसका निर्देश आयुर्वेद के ग्रंथ चरक में विस्तार से किया गया है। जैसे कि उकडूँ बैठने, ऊँचे-नीचे स्थानों में फिरने, कठिन आसन पर बैठने, वायु-मल-मूत्र के वेग को रोकने, कठोर परिश्रम करने, गर्म तथा तेज वस्तुओं का सेवन करने एवं बहुत भूखा रहने से गर्भ सूख जाता है, मर जाता है या उसका स्राव हो जाता है।

(चरक संहिता, शारीर स्थान-८/२१)

चोट लगने से, गर्भ के किसी भांति दबने से, गहरे गड्ढे, कुए, पहाड़ के विकट स्थानों को देखने से गर्भपात हो सकता है। गर्भिणी के शरीर के अत्यधिक हिलने-डुलने या बैल आदि की उबड़-खाबड़ सवारी से, भयंकर शब्द या अप्रिय बात सुनने से भी अकाल गर्भपात हो सकता है। सदैव सीधी उत्तान लेटी रहने से नाड़ी गर्भ के गले में लिपट सकती है, जिससे गर्भ मर सकता है।

(चरक संहिता, शारीर स्थान - ८/२१)

अगर गर्भवती नग्न सोए या इधर-उधर फिरती रहे तो संतान पागल हो सकती है। गर्भवती बहुत लड़ने-झगड़ने वाली होगी तो सन्तान को मृगी हो सकती है। यदि मैथुन में रत रहेगी तो सन्तान कामी उत्पन्न होगी। अगर निरंतर शोक में मग्न रहेगी तो सन्तान भयभीत, कमजोर और कम आयु की होगी। यदि

परधन लेने की इच्छा करेगी तो ईर्ष्यालु, चोर, आलसी, द्रोही, कुकर्मी सन्तान को जन्म देगी। यदि वह क्रोध करेगी तो सन्तान क्रोधी, छली, चुगलखोर होगी। यदि वह बहुत सोयेगी तो सन्तान आलसी, मूर्ख, मन्दाग्नि वाली होगी। यदि शराब पीएगी तो सन्तान विकल-चित्त होगी। बहुत मीठा खाएगी तो सन्तान प्रमेही, अधिक खट्टा खाएगी तो सन्तान त्वचा के रोग वाली, अधिक नमक खाएगी तो सन्तान के बाल जल्दी सफेद हो जाएंगे, चेहरे पर सलवटें तथा गंजापन होगा। अधिक चटपटे भोजन खाएगी तो सन्तान दुर्बल, अल्पवीर्य, बांझ या नपुंसक होगी। अति कड़वा खाएगी तो सन्तान सूखे शरीर की, कृश होगी।

(चरक संहिता शारीर स्थान ८/२१)

गर्भवती स्त्री पहले दिन से ही शुरू करके प्रतिदिन प्रसन्न रहे, पवित्र गहनों को पहने, श्वेत वस्त्र को धारण करे, शान्त मन वाली, सब का भला चाहने वाली, देवता, ब्राह्मण तथा गुरु की सेवा करने वाली बने। मलिन, विकृत या हीन अंगों को न छुए। बदबूदार स्थलों तथा बुरे दृश्यों से दूर रहे। बेचैनी पैदा करने वाली बातों को न सुने। सूखे, बासी, सड़े-गले अन्न का भोजन न करे। घर से बाहर निकलना, खाली मकान में जाना, श्मशान, वृक्ष के नीचे रहना, क्रोध करना, बुरा बनना, ऊँचे चिल्लाना आदि को छोड़ दे। जिन बातों से गर्भ की हानि की संभावना हो उन सब से दूर रहे।

चरक संहिता

मद करने वाले खाद्य-पदार्थों का व्यवहार न करे, सवारी पर न चढ़े, मांस न खाए, इंद्रियाँ जिस बात को न चाहें उन्हें दूर से ही छोड़ दे, पास-पड़ोस तथा रिश्तेदारी की विदुषी स्त्रियाँ जो कुछ बतलायें वैसे करे।

चरक संहिता

ऊपर जो कुछ लिखा है उसका अभिप्राय यह है कि जब सन्तान गर्भ में होती है, तब माता की हर बात का उसके शरीर के निर्माण में भाग होता है, इसलिए माता का कर्त्तव्य है कि सन्तान के शारीरिक-विकास को ध्यान में रखते हुए अपने खान-पान, रहन-सहन आदि व्यवहार को इस प्रकार संभाले, जिससे संतान पर किसी प्रकार का कुप्रभाव न पड़े।

किसी भी शारीरिक दोष के कारण गर्भवती स्त्री का जो-जो भी अंग पीड़ित होता है, गर्भ में स्थित शिशु का वही-वही अंग पीड़ित होने लगता है।

(सुश्रुत शारीर स्थान ३/१६)

३. सीमन्तोन्नयन संस्कार

'सीमन्त' शब्द का अर्थ है मस्तिष्क और 'उन्नयन' शब्द का अर्थ होता है विकास। इस प्रकार सीमन्तोन्नयन संस्कार का अर्थ हुआ- ऐसा संस्कार जिसमें माता का ध्यान मस्तिष्क के विकास पर केंद्रित हो जाता है। पुंसवन संस्कार शारीरिक विकास का संस्कार है, सीमन्तोन्नयन संस्कार मानसिक विकास का संस्कार है। इन दोनों संस्कारों में गर्भस्थ सन्तान का शारीरिक तथा मानसिक सब कुछ आ जाता है।

संस्कार विधि में लिखा है कि सीमन्तोन्नयन संस्कार में पति अपने हाथ से स्व पत्नी के केशों में सुगन्धित तेल डाले, कंघी से सुधारे, पट्टी निकाले, सुन्दर जूड़ा बाँधकर दोनों यज्ञशाला में आएं। इसका अभिप्राय यही है कि इस समय पति तथा पत्नी दोनों का ध्यान अपने तथा संतान के मानसिक विकास पर केंद्रित हो जाना चाहिए, उन्हें यह समझ लेना चाहिए कि संतान का मानसिक विकास उनके अपने ऊपर निर्भर करेगा, जैसा मानसिक जीवन वे व्यतीत करेंगे उसी की छाप उनकी सन्तान पर पड़ेगी। शास्त्रकारों ने माता को एक ऐसा सांचा माना है, जिसमें माता-पिता जैसी सन्तान चाहते उसे वैसा ढाल सकते हैं। इस समय को अगर हाथ से खो दिया तो सन्तान के जन्म लेने के बाद बाहर की अच्छी या बुरी परिस्थिति का प्रभाव प्रबल रूप धारण कर लेता है। सीमन्तोन्नयन संस्कार का अभिप्राय माता-पिता के ध्यान को सन्तान के मानसिक विकास पर केंद्रित कर देता है। सीमन्तोन्नयन संस्कार का सर्वोत्तम समय वह है जब गर्भस्थ सन्तान के मस्तिष्क के 'कोशों' का निर्माण होने लगता है। सुश्रुत के शारीर स्थान में लिखा है :-

पांचवे महीने में मन अधिक जागृत हो जाता है, छठे महीने में बुद्धि, सातवें में अंग-प्रत्यंग अधिक व्यक्त होने लगते हैं, आठवें महीने में ओज अस्थिर रहता है। आठवें महीने में उत्पन्न बच्चा प्रायः जीता नहीं है। इस कथन से स्पष्ट है कि सुश्रुत के अनुसार पाँचवे महीने में गर्भस्थ संतान का मन पहले से अधिक प्रबुद्ध हो जाता है। पहले से अधिक का अर्थ है- चौथे महीने में मन या मस्तिष्क का निर्माण होने लगता है। यही कारण है कि सीमन्तोन्ननयन का समय चौथा महीना निश्चित किया गया है।

सीमन्तोन्नयन संस्कार का मूल उद्देश्य सिर्फ इतना है कि माता इस बात को अच्छी तरह समझे कि अब से अपनी सन्तान के मानसिक विकास की जिम्मेवारी भी उस पर आ पड़ी है। अब से वह जो कुछ करे, यह सोच समझकर करे कि उसके हर विचार का प्रभाव उसके भीतर प्राण ले रही सन्तान के मस्तिष्क पर अनजाने पड़ रहा है।

अगर चौथे महीने सीमन्तोन्नयन नहीं किया तो छठे महीने कर सकते हैं, अगर छठे महीने नहीं किया तो आठवें महीने कर सकते हैं। इ तीनों महीनों में से किसी एक को चुनकर उसमें यह संस्कार करना चाहिए। चतुर्थ में इसलिए क्योंकि चौथे महीने में मस्तिष्क के कोश बनने शुरू हो जाते हैं। छठे में इसलिए क्योंकि इसमें बुद्धि का बीज पड़ जाता है, आठवें में इसलिए क्यों, कि आठवें महीने तक पहुंचते-पहुंचते शरीर-मन-बुद्धि-हृदय ये चारों तैयार हो जाते हैं। इस समय स्त्री को 'दौहृद' कहा जाता है, उसके दो हृदय काम करने लगते हैं, यही अवस्था स्त्री के लिए खतरनाक है, क्योंकि प्रायः आठवें महीने की सन्तान जीती नहीं, इसलिए आठवें महीने में स्त्री को सन्तान के शरीर-मन-बुद्धि-हृदय इन सबको स्वस्थ तथा क्रियाशील बनाए रखने की तरफ विशेष ध्यान देना है। गर्भवती स्त्री की जिस बात में अनिच्छा होती है, उसकी सन्तान की भी उस बात में अनिच्छा हो जाती है, और जिस बात में गर्भवती स्त्री की इच्छा रहा करती है उस बात में उसकी सन्तान की इच्छा भी बन जाती है।

संस्कार पद्धति के निर्माताओं का यह अटल विश्वास था कि माता के संस्कारों का संतान पर चहुँमुखी प्रभाव पड़ता है, इसलिए सीमान्तोन्नयन संस्कार को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया था। मनु स्मृति (अध्याय ९, श्लोक ९) में कहा है :-

यादृशं भजते हि स्त्री सुतं सूते तथाविधम् ।
तस्मात् प्रजाविशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत् प्रयत्नतः ॥

गर्भवती स्त्री जिस प्रकार की तस्वीर अपने मन में खींच लेती है वह उसी प्रकार की सन्तान को जन्म देती है, इसलिए उत्तम सन्तान के लिए स्त्री को ऐसे वातावरण में रखना चाहिए, जिससे सन्तान उत्तम तथा शुद्ध संस्कारों की हो।

४. जातकर्म संस्कार

संतान के उत्पन्न हो जाने के बाद जो कर्म किए जाएं, वे जातकर्म कहलाते हैं। इसे संस्कार का नाम इसलिए दिया गया है, क्योंकि उत्पन्न होने के बाद किए जाने वाले कर्मों के अतिरिक्त इसमें कुछ 'संस्कार' भी किए जाते हैं, जिनके द्वारा सन्तान के अनजाने भी उस पर कुछ संस्कार डालने का प्रयत्न किया जाता है।

सन्तान के जन्म के समय किए जाने वाले कर्म

बच्चे का मुख, नाक आदि साफ करना – उत्पन्न होने से पहले गर्भावस्था में बच्चा एक अलग ही पर्यावरण में होता है। वह मुख से भोजन नहीं लेता, नाक से सांस नहीं लेता। उसका भोजन नाभि द्वारा माता से सीधा पहुंचता है। गर्भावस्था में वह एक थैली में बंद होता है, जिसमें पानी भरा होता है। यह पानी मुख या नाक में न चला जाए, इसलिए प्रकृति ने उसका मुख तथा नाक श्लेष्मा से बंद कर दिया होता है। बाह्य जगत् में आने के बाद उसका मुख तथा नाक साफ करना होता है। अब क्योंकि उसका माता से शारीरिक संबंध टूट जाता है, इसलिए माता से पोषण तत्त्व अनायास नहीं प्राप्त होता। मुख साफ करने के बाद वह दूध पी सकता है, नाक साफ करने के बाद वह सांस ले सकता है। यह सफाई प्रायः सधी हुई दाई नरम-मुलायम कपड़े से कर देती है। बच्चे के नाक तथा गले में भी श्लेष्मा भरा होता है, इसलिए कय आदि कराकर उसका गला, नाक आदि साफ करने पड़ते हैं। आयुर्वेद के अनुसार सैंधव नमक घी में मिलाकर देने से नाक और गला साफ हो जाते हैं।

बच्चे का स्नान – जब बच्चा पानी की थैली में होता है, तब उसके शरीर पर एक प्रकार का स्निग्ध लेप चढ़ा होता है, जिससे उसकी त्वचा पर थैली में भरा पानी किसी प्रकार का प्रभाव नहीं करता। थैली में से बाहर आ जाने के बाद इस स्निग्ध लेप को धो डालने की जरूरत पड़ती है - इसीलिए उसे स्नान कराना आवश्यक है। इस कर्म के लिए साबुन का प्रयोग किया जाता है। साबुन को अपने हाथ में मलकर धीरे से बच्चे के शरीर पर मलने से यह तेल जैसा लेप उतर जाता है। साबुन का इस्तेमाल न करना हो तो बेसन और दही को मिलाकर उबटन की तरह उसका प्रयोग किया जा सकता है। स्नान के लिए गुनगुने पानी का इस्तेमाल करना चाहिए।

कान के पास पत्थरों का बजाना – मुख तथा नाक अदि के श्लेष्मा को तो नरम कपड़े से साफ कर दिया जाता है, परन्तु कान से वह शब्द सुन सके इसलिए कान साफ कर फिर कान के पास कुछ शब्द किया जाता है। चरक में लिखा है **'अश्मनोः संघट्टनं कर्णमूले'** – अर्थात् कान की जड़ में पत्थरों को बजाना चाहिए, ताकि कान शब्द सुनने का अपना काम कर सकें।

सिर पर घी में डुबोया फाया रखना – **'घृताक्तं पिचुं मूर्ध्नि दद्यात्'** – बच्चे के सिर पर घी में डुबोया हुआ फाया रखना चाहिए। घी के फाये को सिर पर रखने के संबंध में वैद्य अत्रिदेवजी लिखते हैं : ''बच्चे का तालु जहां पर सिर की तीन अस्थियाँ दो पासे की और एक माथे की मिलती है, वहां

पर जन्म जात बच्चे में एक पतली झिल्ली होती है, जिसे तालु कहते हैं- यह मुख्य वस्तु है । इस तालु से ही उसके स्वास्थ्य की परीक्षा होती है ।''

इस तालु को दृढ़ बनाने से ही बच्चा स्वस्थ होता है, इसलिए इसकी रक्षा करना, इसे पोषण तत्त्व पहुंचाना आवश्यक है । इसीलिए सुश्रुत ने बच्चे के तालु पर घी का फाया रखने का परामर्श दिया है । सिर पर घी या तेल का प्रयोग करते रहने से बच्चे को सर्दी, जुकाम आदि नहीं सताते ।

बच्चे को घी चटाने का अर्थ है कि दीर्घजीवन के लिए उसे गौ के दूध, दही, लस्सी, घी पर निर्भर करना होगा ।

घी से बुद्धि बढ़ती है ; स्मृति व मेधा (विषय को ग्रहण करने की शक्ति) को लाभ होता है; जठराग्नि, बल, आयु, शुक्र के लिए हितकर है । आंखों को दीप्ति देता है ; बालक, वृद्ध तथा सर्वसाधारण के लिए उत्तम है; कांति, कोमलता तथा मधुर स्वर की कामना वाले के लिए उपयोगी है । घी सब स्निग्ध पदार्थों में श्रेष्ठ है, शीत प्रकृति का है, आयु को स्थिर रखने वाला है, ठीक विधि से इसका सेवन किया जाए तो इससे हजारों काम निकलते हैं ।

जातकर्म में बच्चे को जैसे घी चटाया जाता है, वैसे ही शहद भी चटाया जाता है । शहद का चिकित्सा शास्त्र में बड़ा महत्त्व है । जिन लोगों को मधुमेह हो जाती है, उन्हें चीनी की जगह शहद खाने की सलाह दी जाती है । यह अत्यंत सुपाच्य तथा स्वास्थ्य प्रद खाद्य है ।

शहद, मधुर, कषाय तथा जो औषध लें उसका गुण बढ़ा देने वाला है । रूक्ष, शीतल, जठराग्नि को उद्दीप्त करने वाला, रंग-रूप को सुधारने वाला, बलकारक, हलका, कोमल, शरीर को मोटा न होने देने वाला, हृदय को प्रिय, उत्तेजक, जोड़ों को जोड़ने वाला, शोधनकर्त्ता, घावों को भरने वाला है । यह वाजीकरण, काबिज, नेत्रों को प्रसन्न करने वाला, निर्मल, रोम-रोम में पहुंचने वाला है । पित्त, कफ, मेद, प्रमेह, हिचकी, श्वास, खांसी, अतिसार, उल्टी, तृषा, कृमि, विष इन दोषों को शान्त करता है । आह्लाद-जनक तथा वात-पित्त-कफ इन त्रिदोष को दूर करता है ।

घी और मधु की इतनी उपयोगिता को देखकर वैदिक संस्कृति में बच्चे के उत्पन्न होते ही उसका इन दोनों से जातकर्म संस्कार करते हुए परिचय करा दिया जाता था। घी तथा शहद को चाटने का एक और लाभ भी है । बच्चा जब माँ के पेट में होता है तब उसकी आंतों में एक प्रकार का मल जमा रहता है जिसे 'मेकोनियम' कहते हैं । डॉक्टर लोग प्रायः इस मल को निकालने के लिए अरंडी का तेल दिया करते हैं, परन्तु उससे आंतें उद्वेलित हो सकती

हैं। इस मल को निकालने के लिए घी और शहद अत्युत्तम पदार्थ हैं। अरंडी के तेल की जगह घी तथा शहद को बच्चा आसानी से चाट लेता है।

सुवर्ण शलाका का प्रयोग – संस्कार विधि में लिखा है कि घी और मधु को सोने की शलाका से बालक को चटाएँ।

सुश्रुत में तो यह लिखा है कि इन दोनों में सुवर्ण का मिश्रण भी कर देना चाहिए। अनामिका अंगुली से मधु, घृत तथा सुवर्ण बालक को चटाए। सोने के वरक की जगह सुवर्ण भस्म का भी प्रयोग किया जा सकता है। सुवर्ण स्वास्थ्य के लिए आयुर्वेद में अत्यंत उत्तम माना गया है। सुवर्ण खाने वाले के अंग में विष ऐसे ही प्रभाव नहीं करता जैसे पानी में रहते हुए भी कमल के पत्र पर पानी का प्रभाव नहीं होता।

इस प्रयोग के अलावा सुवर्ण शलाका से बालक की जीभ पर 'ओ३म्' लिखने का विधान संस्कार विधि में किया गया है। यह क्रिया माता-पिता की तरफ से अज्ञात रूप में बालक पर संस्कार डालने के लिए की जाती है। इस क्रिया में दो पक्ष हैं, जिन पर इस प्रयोग द्वारा संस्कार डाला जाता है। एक पक्ष तो स्वयं माता-पिता हैं, दूसरा पक्ष सन्तान है। जब माता-पिता नवजात शिशु की जीभ पर 'ओ३म्' लिखते हैं तब वे अपने ऊपर एक बड़ी भारी जिम्मेदारी लेते हैं। माता-पिता बालक को जिस पर्यावरण में रखेंगे, बच्चे पर वैसे ही तो संस्कार पड़ेंगे। मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि बच्चा जन्म के बाद प्रारंभिक पाँच वर्षों में जो कुछ सीख जाता है, वह उसकी जन्म भर की धरोहर होती है। पहले पांच वर्षों में बच्चा माँ-बाप के द्वारा उपस्थित वातावरण में रहता है। घर ही उसका पर्यावरण होता है। अगर माता-पिता संयम का, साफ-सुथरा जीवन व्यतीत करेंगे तो बच्चा वही कुछ सीखेगा, अगर वे नाच-तमाशे में, राग-रंग में घुले रहेंगे तो बच्चा भी उसी जीवन में रंग जाएगा।

पिता जब बालक के जीभ पर 'ओ३म्' लिखता है तब वह अपने ऊपर यह जिम्मेदारी लेता है कि अपनी सन्तान को भोगवाद में छोड़ देने के स्थान पर वह उसे अध्यात्म के मार्ग का पथिक बनाएगा। यह जिम्मेदारी तो पिता पर आती है, परन्तु इसी समय पिता बच्चे पर भी उसके अनजाने एक जिम्मेदारी डाल देता है। बच्चा जब बड़ा होता है, और उसे पता चलता है कि उसके पिता ने भरी समाज के समूह में यह प्रतिज्ञा की थी कि वह उस के लिए अध्यात्म के मार्ग का पथ प्रदर्शक बनेगा, तब बच्चा भी दिनों-दिन अनुभव करने लगता है कि उसे अपने माता-पिता तथा समाज की आंशाओं को पूर्ण करना होगा। इस दृष्टि से बालक की जीभ पर स्वर्ण-शलाका द्वारा सब के सामने 'ओ३म्'

लिखना बच्चे के आध्यात्मिक विकास के लिए अत्यावश्यक है। संस्कार करने का उद्देश्य मानव समाज को उच्च से उच्चतर तथा उच्चतर से उच्चतम मानव देना है, इस दिशा में स्वर्ण-शलाका द्वारा बालक की जीभ पर ओंकार लिखना एक कदम है।

बालक के कान में 'वेदोऽसि' कहना– बालक के कान में पिता कहता है **'वेदोऽसि'**- तू ज्ञान वाला प्राणी है, अज्ञानी नहीं है। कान में मंत्र देने की प्रथा सब जगह चल रही है, कान में मंत्र देने का अर्थ है- गुप्त बात, वह बात जो अपने अन्तःकरण में संभाल कर रखने की होती है। जब कोई गुरु किसी शिष्य को कान में गुप्त मंत्र देता है, तब देने वाला और लेने वाला दोनों समझते हैं कि अब इसका पालन धर्म के तौर पर करना होगा, इसका कभी भंग नहीं होगा। पिता पुत्र के कान में उसके जन्म लेते ही यह बात फूंक देता है कि उसे संसार में ज्ञानी बनकर रहना होगा, अज्ञानी बनकर नहीं रहना होगा।

५. नामकरण संस्कार

जातकर्म संस्कार के बाद पाँचवां संस्कार नामकरण संस्कार है। जिसमें लड़के या लड़की का नाम रखा जाता है।

किसी वस्तु को पहचानने तथा उसके संबंध में दूसरों के साथ व्यवहार करने में उसको कोई न कोई नाम देना आवश्यक है, परंतु क्या सिर्फ नाम दे देना ही काफी है। हमने जैसा कई बार लिखा है, संस्कार पद्धति का उद्देश्य श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठतर, उच्च-से-उच्चतर मानव का निर्माण करना है। इस दृष्टि से देखा जाए तो हर एक माता-पिता का कर्त्तव्य है कि सन्तान को ऐसा नाम दे, जो उसे हर समय जीवन के किसी लक्ष्य, किसी उद्देश्य की याद दिलाता रहे।

जड़ पदार्थों तथा पशु-पक्षी के तथा निरर्थक नाम न रखना – प्रायः देखा जाता है कि अपने यहाँ बालक-बालिकाओं के नाम जड़ पदार्थों या पशु-पक्षियों के नाम पर रखे जाते हैं। जिसका नाम ही जड़ पदार्थों को सूचित करता है, उसमें उन्नति की प्रेरणा कैसे हो सकती है, इसी प्रकार पशु-पक्षियों से संबद्ध नाम से बालक के हृदय में उत्कृष्ट भावना नहीं हो सकती।

ऊँची भावना जागृत करने वाला नाम रखना चाहिए – नाम रखने के दो उद्देश्य हैं, एक तो यह कि बालक या बालिका को संबोधित किया जा सके, दूसरा यह है कि उसके हृदय में उच्च भावना को जगाया जा सके, उसे अनुभव हो कि उसने जीवन में क्या बनना है ? उदाहरणार्थ वीरसेन का अर्थ है, जो युद्ध में वीरता का परिचय दे, वेदव्रत का अर्थ है जो वेदों के स्वाध्याय का

व्रत ले, सत्यव्रत का अर्थ है जो जीवन में सचाई से बरते । ऐसे नामों से कुछ भावना जागृत होती है, और जिस भावना को लेकर नाम दिया गया है वह भावना व्यक्ति में न हो तो उसके नाम से उसे जगाया जा सकता है ।

चरक में लिखा है: **'तत्र आभिप्रायिकं [illegible]म'** – नाम ऐसा होना चाहिए जिसका कोई अभिप्राय हो । यह बात केवल वैदिक संस्कृति में पाई जाती है, अन्य लोगों में निरर्थक नाम रखे जाते हैं । सारे पश्चिमी जगत् में इस बात को समझा ही नहीं गया कि नाम रखने का प्रयोजन सिर्फ संबोधन करना ही नहीं है, संतान के सामने नाम के द्वारा जीवन का एक लक्ष्य रख देना भी है ।

नाम सुगम होना चाहिए, कठिन नहीं – नाम रखते हुए इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि नाम ऐसा हो जिसे सुगमता से उच्चारण किया जा सके । उदाहरणार्थ अगर संयुक्ताक्षर के नाम का प्रारंभ होगा या बीच में संयुक्ताक्षर आ पड़ेगा तो बोलने में कठिनाई होगी और बोलने वाला संयुक्ताक्षर को तोड़ कर बोलेगा । मुख्य नियम यही है कि नाम छोटा होना चाहिए, आसानी से उच्चारा जा सकना चाहिए, मधुर अक्षरों वाला होना चाहिए ।

नामकरण के विषय में संस्कार विधि में लिखा है कि जिस दिन संतान का जन्म हो उसी दिन से लेकर १० दिन छोड़ उसका ११ वें दिन नामकरण संस्कार किया जा सकता है, अथवा १०१ वें दिन, अथवा दूसरे वर्ष के प्रारंभ में जिस दिन जन्म हुआ हो उस दिन नामकरण संस्कार किया जा सकता है ।

पाश्चात्य देशों में चुम्बन का प्रचलन है, परन्तु वैदिक संस्कृति में सूंघने या स्पर्श करने का वर्णन आता है । चुम्बन से अनेक प्रकार के रोग संक्रांत हो जाने का भय रहता है । किसी को जुकाम है, किसी को खांसी है, किसी को कोई संक्रामक रोग है, इस प्रकार चुम्बन से दूसरे को रोग हो जाने का भय बना रहता है । इसलिए स्वास्थ्य रक्षा की दृष्टि से चुम्बन उपयुक्त नहीं है। हस्त स्पर्श या बच्चों का मस्तक सूंघने से वही प्रयोजन सिद्ध हो जाता है । इसके अतिरिक्त जब बच्चे को गोद में लेकर उसकी नासिका द्वार के वायु का स्पर्श किया जाता है तब बच्चे का ध्यान अपने आप वायु को स्पर्श करने वाले की तरफ खिंच जाता है ।

६. निष्क्रमण संस्कार

निष्क्रमण संस्कार छठा संस्कार है । 'निष्क्रमण' का अर्थ है- बाहर निकलना। अब तक बच्चा घर की चारदीवारी में बंद था, परंतु घर के बंद वातावरण में ही उसे नहीं पड़े रहना है, उससे बाहर निकलना है । शरीर तथा मन के विकास के लिए ठंडी हवा तथा सूर्य की रोशनी की जितनी आवश्यकता है, उतनी दूसरी किसी वस्तु की नहीं । इसी उद्देश्य को सम्मुख रखकर बच्चे के लिए एक धार्मिक संस्कार का विधान कर दिया गया है, ताकि वह ठंडी ताजी हवा तथा सूर्य की प्राणप्रद किरणों का सेवन कर सके । अभी वह इस योग्य तो हुआ नहीं होता कि स्वयं दौड़ता-घूमता फिरे, इसलिए इस बात को माता-पिता के धार्मिक कर्त्तव्य में जोड़ दिया गया है कि वे घर की चारदीवारी में से उसे निकालें और शुद्ध वायु तथा धूप का सेवन कराएं ।

निष्क्रमण संस्कार का समय :-

निष्क्रमण संस्कार के समय के संबंध में गोभिल गृह्यसूत्र का मत है कि जन्म के बाद तीसरे शुक्ल पक्ष की तृतीया को निष्क्रमण संस्कार करना चाहिए, अर्थात् चंद्रमास की दृष्टि से जन्म के २ मास ३ दिन बाद यह संस्कार करना चाहिए। पारस्कर गृह्यसूत्र के मत के अनुसार जन्म के चौथे महीने में यह संस्कार होना चाहिए । इन दोनों में कोई मूलगत भेद नहीं है । अभिप्राय यह है कि अगर बच्चा कमजोर हो तो ३ महीने बाद और हृष्ट-पुष्ट हो तो २ महीने बाद उसे बाहर की हवा तथा सूरज की धूप में लाना ले जाना चाहिए। इससे पहले बच्चे को बाहर ले जाने में उसे ठंड या गर्मी लग सकती है ।

आयुर्वेद के ग्रंथों में नामकरण के बाद कुमारागार, बालकों के वस्त्र, बालकों के खिलौने, बालकों की रक्षा, बालकों का पालन आदि विषयों पर जो प्रकाश डाला गया है वह बालक के विकास की दृष्टि से ध्यान देने योग्य है । वहाँ शारीर स्थान में लिखा है -

कुमारागार -

मकान के निर्माण को समझने वाले वास्तुकुशल (इंजीनियर) व्यक्ति प्रशस्त, सुंदर, जिस स्थान में अधिक हवा न आती हो परन्तु एक मार्ग से वायु का प्रवेश हो, जिसमें कुत्ते, हिंसक जन्तु, चूहे, मच्छर आदि न आ सकें ऐसा पक्का मकान बनवाएं । उस घर में विधिवत् यथास्थान जल, कूटने-पीसने का स्थान, मूत्र व मल त्याग के स्थान, स्नानगृह, रसोईघर अलग-अलग हों । इसमें ऋतुओं के अनुकूल सुख, ऋतुओं के अनुसार सोना, बैठना, बिछौना

आदि होना चाहिए। इस कुमारागार में रक्षा के सम्पूर्ण साधन, मंगल कार्य, होम आदि की सामग्री उपस्थित रहनी चाहिए। इसमें पवित्र विचारों के वृद्ध वैद्य और बालक से प्रीति रखने वाले मनुष्य भी रहें। यह है 'कुमारागार' अर्थात् बालक का घर और उसमें होने वाला प्रबंध जिसमें बालक का लालन-पालन होना चाहिए।

कुमार के वस्त्र

बिस्तर, आसन, बिछौने के वस्त्र कोमल, हल्के, पवित्र, सुगन्धित होने चाहिएं। पसीना, मल, मूत्र एवं जूँ आदि से दूषित हुए कपड़े हटा देने चाहिए, नए बरतने चाहिए। यदि नए न हों तो इन्हीं वस्त्रों को अच्छी तरह धोकर गुग्गुल, सरसों, हींग, वच, चोरक आदि का धुआँ देकर साफ करके सुखाकर काम में ला सकते हैं।

कुमार के खिलौने

बच्चों के खिलौने विचित्र प्रकार के बजने वाले, देखने में सुंदर, हलके, आगे से कुण्ठित (बिना नोंक के), मुख में न आने वाले, प्राण-हरण न करने वाले हों।

कुमार का मानसिक विकास

शिशु को डराना ठीक नहीं। किसी भी कारण से वह रोने लगे, खाना न खाए, दूसरी तरफ ध्यान दे तो उसे डराने के लिए राक्षस, पिशाच, पूतना आदि का नाम नहीं लेना चाहिए।

७. अन्नप्राशन संस्कार

संस्कारों के सिलसिले में अन्नप्राशन सातवां संस्कार है। अन्नप्राशन का अर्थ है - जीवन में पहले-पहल अन्न का खाना। बच्चे को जन्मते ही माँ का दूध मिलता है, उस समय न तो अन्न चबाने के उसके दाँत होते हैं न अन्न हजम करने लायक उसका हाजमा होता है। उस समय जो भोजन उसके लिए संभव हो सकता है उसका प्रबंध परमात्मा ने कर दिया है।

वैसे तो सब माता-पिता कभी न कभी तो बच्चे को दूध छुड़ाकर उसे अन्न पर ले आते हैं, परन्तु इसे नियम में बाँध देने का काम सिर्फ वैदिक संस्कृति में इसे सोलह संस्कारों का अंग बनाकर किया गया है।

जब दाँत निकलने के दिन आने लगें तब यह समझ लेना चाहिए कि शिशु का माता का दूध छुड़ाने का समय आ पहुंचा। बच्चों के दाँत छठे महीने से निकलने लगते हैं, इसलिए अन्न प्राशन संस्कार का समय भी छठा महीना है।

पारस्कर गृह्यसूत्र में लिखा है : **'षष्ठे मासेऽन्न प्राशनम्'** अर्थात् छठे महीने अन्नप्राशन संस्कार होना चाहिए। कई निर्धन माताएं लाड़ प्यार में छठे महीने से पहले बच्चे को अन्न देने लगती हैं, इससे उसका हाजमा बिगड़ जाता है। इसी प्रकार कई माताएं बच्चे के दाँत निकल आने पर भी उसे दूध पर ही रखती हैं। उनका विचार यह होता है कि बच्चा जितनी देर तक दूध पीयेगा उतना ही स्वस्थ होगा। यह बात भी प्रकृति के विरुद्ध है। दूध पर ही रहने वाला बच्चा थुलथुला हो जाता है, उसके शरीर की गठन ढीली रहती है। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर शास्त्रकारों ने दूध छुड़ाने का समय बाँध दिया है जिससे अनजाने में न माता को नुकसान हो, न शिशु को नुकसान हो।

शिशु को दूध छुड़ाने का तरीका यह है कि २४ घंटे में जितनी बार माता अपना दूध पिलाती है, उनमें से कुछ बार वह न पिलाए और उसकी जगह बोतल का दूध पिलाए। इस प्रकार धीरे-धीरे करने से शिशु का पेट बिगड़ता नहीं है, अन्यथा एकदम बाहर का दूध पिलाने से उदर का विकार हो सकता है। इसके अतिरिक्त एकदम अपना दूध बंद कर देने से माता की छाती में दूध भरे रहने से दर्द भी हो जाता है। इन दोनों दृष्टियों को सामने रखकर क्रमशः दूध छुड़ाना ही माता तथा शिशु दोनों के लिए हितकर है।

पहले-पहल जब माता का दूध बंद करना हो और उसे बाहर का दूध तथा अन्न पर लाना हो तो माता के दूध की जगह गाय का दूध देना चाहिए, क्योंकि माता तथा गाय के दूध में अन्य दुग्धों की अपेक्षा अधिक समानता है। इस दूध को बनाने के लिए १५० मि.ग्रा. गाय के दूध में ६० मि.ग्रा. उबला पानी व १ चम्मच मीठा डाल कर शिशु को पिला दें। यह क्रम एक सप्ताह तक चलाएं। उसके बाद दूसरे सप्ताह में एक बार की जगह दो बार बाहर का दूध दें। ६ बजे माता का, १० बजे गाय का, २ बजे माता का, ६ बजे गाय का, १० बजे माता का - इस प्रकार एक सप्ताह तक यह क्रम रखें। तीसरे सप्ताह दो बार की जगह तीन बार बाहर का और दो बार माता का दूध दें। प्रातः ६ बजे माता का १०, २, ६ बजे गाय का, रात को १० बजे फिर माता - इस प्रकार तीसरे सप्ताह का क्रम जारी रखें। चौथे सप्ताह दोपहर के २ बजे के भोजन में दूध के स्थान पर सब्जी का रसा, थोड़ा दही, थोड़ा शहद, थोड़ा चावल दें, बाकी क्रम वही जारी रखें। पांचवे सप्ताह दो समय के दूध के स्थान में रसा, सब्जी, दही, शहद आदि बढ़ा दें। इस प्रकार बालक को धीरे-धीरे माता का दूध छुड़ाकर अन्न के भोजन पर ले आवें। एकदम माता का या बाहर का दूध छुड़ाकर उसे अन्न पर ले आने से बच्चे को पेट के अनेक रोग हो सकते हैं।

८. चूड़ाकर्म संस्कार

चूड़ाकर्म संस्कार संस्कारों की श्रृंखला में आठवां संस्कार है। इसके लिए अन्य शब्दों का भी प्रयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ इसे मुंडन-संस्कार, चूड़ाकरण, केश-वपन, क्षौर आदि भी कहते हैं। चूड़ाकर्म का अर्थ है- सिर के बालों के संबंध में कर्म। मुंडन संस्कार जन्म से तीसरे वर्ष या एक वर्ष के भीतर कर देना चाहिए।

प्रथम तथा तृतीय वर्ष का कारण यह है कि बच्चे के ६-७ मास की आयु से दाँत निकलने शुरू हो जाते हैं, जो अढ़ाई तीन वर्ष की आयु तक निकलते रहते हैं। बच्चे के दाँत दो बार निकलते हैं, पहले दूध के दाँत कहलाते हैं, इनके टूटने के बाद स्थिर, पक्के दाँत निकलते हैं। दूध के दाँत २० होते हैं, इनके बाद पक्के दाँत ३२ होते हैं। एक वर्ष की आयु तक पहुँचते-पहुँचते आठ दाँत निकल आते हैं, चार ऊपर के, चार नीचे के। डेढ़ वर्ष की आयु में १२ दाँत, डेढ़ से दो वर्ष की आयु में १६ दाँत और दो से आढ़ाई-तीन वर्ष की आयु तक पहुँचते-पहुँचते २० दाँत निकलते हैं, इनके निकलने के बाद प्रकृति ने आराम देने के लिए अगले दाँत निकलने में व्यवधान डाल दिया है, ताकि शिशु को लगातार कष्ट न उठाना पड़े।

दाँत निकलते समय सिर भारी हो जाता है, गर्म रहता है, सिर में दर्द होता है, मसूड़े सूज जाते हैं, लार बहा करती है, दस्त लग जाते हैं, हरे-पीले भारी-भारी दस्त आते हैं, आँखें आ जाती हैं, बच्चा चिड़चिड़ा हो जाता है। दाँतों का भारी प्रभाव सिर पर पड़ता है, इसलिए सिर को हल्का तथा ठंडा रखने के लिए सिरपर से बालों का बोझ उतार डालना ही चूड़ाकर्म संस्कार का उद्देश्य है।

तीन साल के बाद खोपड़ी की अस्थियाँ जुड़ जाती हैं, इसलिए गर्भावस्था के बालों को निकाल देने का समय आ जाता है। गर्भावस्था के बालों को, जो अब तक खोपड़ी की, और खोपड़ी की रक्षा के द्वारा मस्तिष्क की रक्षा कर रहे थे, उस्तरे से निकाल देने के निम्न कारण हैं :

(१) मलिन बालों को निकाल देना – शिशु जब गर्भ में होता है तभी उसके बाल आ जाते हैं, और वे मलिन जल में रहते हैं। इन मलिन केशों को उस्तरे से साफ कर देना आवश्यक है। इसी कारण मुंडन किया जाता है। इन केशों को तभी तक रखना उचित है, जब तक खोपड़ी की संधि अस्थियाँ आपस में न जुड़ें क्योंकि तीसरे साल तक ये जुड़ जाती हैं, इसलिए इसके बाद इन मलिन केशों को रखने से कोई लाभ नहीं।

(२) सिर की खुजली, दाद आदि से रक्षा - सिर पर बाल बने रहने से बच्चे के सिर में खुजली, दाद, जुएँ आदि अनेक रोग हो जाते हैं, इन रोगों से बच्चे को बचाए रखने के लिए भी बाल निकाल देना उचित है। इन बालों के निकल जाने से बच्चे के सिर की सफाई अच्छी तरह से हो सकती है।

(३) सिर के भारी होने आदि से रक्षा - बालों के कारण सिर भारी रहता है, जिस से बच्चे को सिर में गर्मी, दर्द आदि सताते हैं। इस कारण भी सिर के बाल उतार देना उचित है।

(४) नए बाल आने में सहायक हैं - बाल जितने कटते हैं, उतने ही नए पुष्ट बाल आते हैं। सिर पर उस्तरा दो-तीन बार फिर जाएं तो बालों की जड़ें मजबूत हो जाती हैं और नए बाल लंबे तथा दृढ़ होने में सहायता मिलती है।

९. कर्णवेध संस्कार

संस्कारों की श्रृंखला में कर्णवेध नवाँ संस्कार है। कर्णवेध का अर्थ है कान को बींध देना, उसमें छेद कर देना।

सुश्रुत में लिखा है : **'रक्षाभूषणनिमित्तं बालस्य कर्णौ विध्येते'** अर्थात् बालक के कान दो उद्देश्यों से बींधे जाते हैं। एक उद्देश्य है बालक की रक्षा, दूसरा उद्देश्य है बालक के कानों में आभूषण डाल देना।

सुश्रुत ने कहा है कि कर्णवेध से बालक की रक्षा होती है। रक्षा किस प्रकार होती है - यह विचारणीय है। अनेक व्यक्तियों का अनुभव है कि कान में छेद करने से कोई ऐसी नस छिद जाती है, जिसका संबंध आंतों से है। इस नस के छिद जाने से आंत्रवृद्धि (हर्निया) नहीं होती। जब बच्चा पैदा होता है, तब उसके अंडकोश थैली में नहीं उतरते वे पेट में आंतों के नीचे पड़े होते हैं। बाद को एक छेद में से होकर वे थैली में नीचे उतर आते हैं। इन्हीं दो छेदों में से आंत का कुछ हिस्सा उतर आए तो यह एक प्रकार की आंत्रवृद्धि या हर्निया कहलाती है।

आजकल यह काम सुनार या कोई भी व्यक्ति जो इस काम में निपुण हो कर देता है। परंतु सुश्रुत में लिखा है: **'भिषक् वामहस्तेनाकृष्य कर्णं दैवकृते छिद्रे आदित्यकरावभास्विते शनैः शनैः ऋजु विद्धयेत्'** - अर्थात् वैद्य अपने बायें हाथ से कान को खींच कर देखे, जहाँ सूर्य की किरणें चमकें वहां-वहां देवकृत छिद्र में धीरे-धीरे सीधे बींधे। इससे यह प्रतीत होता है कि कान को बींधने का काम ऐसे-वैसे का न होकर चिकित्सक का है, क्योंकि कान में किस जगह छिद्र किया जाए यह चिकित्सक ही जान सकता है।

१०. उपनयन संस्कार

उपनयन संस्कार में मुख्य कर्म यज्ञोपवीत का धारण करना है। यज्ञोपवीत का धारण करना गृह्यसूत्रों के अनुसार ब्राह्मण बालक का आठवें वर्ष में, क्षत्रिय का ग्यारहवें वर्ष में तथा वैश्य का बारहवें वर्ष में करने का विधान है।

उपनयन संस्कार का अभिप्राय यह है कि अब तक माता-पिता अपने परिश्रम से बालक के जीवन पर ऐसे संस्कार डाल रहे थे, जिनसे वह इस जन्म के संस्कारों के कारण नव मानव बन सके। अब वे उसे आचार्य के पास लाने का श्रीगणेश करने वाले हैं, जिससे आचार्य, जिसका काम ही बच्चों को नया जीवन देना है, उन्हें नए साँचे में ढालना है, बच्चे के जीवन को उसकी प्रवृत्तियों के अनुसार एक नई दिशा दे सके।

यज्ञोपवीत में तीन धागों का एक सूत्र बालक के शरीर पर डाला जाता था - इन्हीं तीन तारों वाले सूत्र को ''यज्ञ सूत्र'' या ''यज्ञोपवीत'' कहा जाता था। इसे धारण कर लेने का अभिप्राय यह था कि अब यह बालक पढ़ने-लिखने लगा है। जैसे आजकल स्कूल में भर्ती होते हुए जो वहाँ दाखिला लेते हैं, उनका नाम रजिस्टर में लिखा जाता है, वैसे ही किसी समय विद्याभ्यास करना शुरू करने का चिह्न यज्ञोपवीत था। जिस देश में यह संस्कार प्रचलित था उस देश में अपठित व्यक्ति कौन रह सकता था। हर बालक का यज्ञोपवीत संस्कार करना पड़ता था, जिस बालक का यह संस्कार नहीं होता था, उससे आसपास, पड़ौसी, रिश्तेदार पूछ सकते थे कि तुम्हारे बालक का यह संस्कार क्यों नहीं हुआ ? कई लोगों का कहना तो यह है कि पहले-पहल यज्ञोपवीत अंग वस्त्र के ऊपर पहना जाता था, जहाँ से सब को दीख सके और इसे देखकर हर कोई यह अंदाज लगा सके कि यह बालक शिक्षा ग्रहण करने के लिए गुरु के पास जाता है।

यज्ञोपवीत में तीन सूत्र होते हैं जो क्रमशः तीन ऋणों के सूचक हैं (१) ऋषिऋण (२) पितृऋण तथा (३) देवऋण। प्रथम ऋण ब्रह्मचर्य धारण कर वेदविद्या के अध्ययन से, द्वितीय ऋण धर्मपूर्वक गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर सन्तानोत्पत्ति से तथा तृतीय ऋण गृहस्थ का त्याग कर देश सेवा के लिए अपने को तैयार करने से निवृत्त होता है, इसलिए ये तीनों ऋण ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ - इन तीन आश्रमों के सूचक हैं। यही कारण है कि जब व्यक्ति इन तीनों ऋणों से मुक्त हो जाता है, तीनों आश्रमों को लाँघ जाता है, तब इस सूत्र को विधान के अनुसार यज्ञ की अग्नि में डाल देता है, फिर इसे धारण

नहीं करता और संन्यास आश्रम में प्रविष्ट हो जाता है ।

ऋषि-ऋण - समाज में ऋषि लोगों ने ज्ञान-विज्ञान का परिचय प्राप्त कर हमें ज्ञान दिया । अगर उनके पास ज्ञान न होता, तो हम निरे मूर्ख के मूर्ख रह जाते । जैसे उन लोगों ने ज्ञान प्राप्त कर उस ज्ञान को हम तक पहुंचाया, वैसे हम भी ज्ञान प्राप्त कर समाज में आगे-आगे ज्ञान गंगा के बहते रहने का प्रबंध करें - इस बात को यज्ञोपवीत का एक सूत्र हमें याद दिलाता रहता है। जब हम ज्ञान प्राप्त कर रहे होते हैं तब ऋषियों द्वारा हम पर छोड़े गए ऋण की याद कर रहे होते हैं । यह कार्य ब्रह्मचर्याश्रम में ही होता है, इसलिए ब्रह्मचर्याश्रम हमें ऋषि ऋण से उऋण होने की याद दिलाता है ।

पितृ-ऋण - हमारे माता-पिता ने ब्रह्मचर्याश्रम समाप्त कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया और हमें उत्पन्न किया । अगर वे गृहस्थाश्रम में प्रवेश न करते, तब हमारा जन्म कैसे होता । इसी प्रकार हम ब्रह्मचर्याश्रम को समाप्त कर युवावस्था में गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर समाज को उत्तम सन्तति प्रदान करें जिससे समाज का पिता से पुत्र, पुत्र से पौत्र, इस प्रकार का सिलसिला बँधा रहे । जब हम ब्रह्मचर्याश्रम समाप्त कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर रहे होते हैं, तब अपने माता-पिता द्वारा हम पर छोड़े गए पितृ-ऋण की याद कर रहे होते हैं । यह कार्य गृहस्थाश्रम में ही होता है, इसलिए यज्ञोपवीत का दूसरा सूत्र हमें गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर पितृ ऋण से उऋण होने की याद दिलाता है ।

देव-ऋण - आश्रम जीवन का मुख्य उद्देश्य सकामता से निष्कामता की तरफ अग्रसर होना है । हम संसार के काम-धंधों में इतने फँसे रहते हैं कि उनका मोह हमें बाँधे रखता है । अन्त में सब मोह-माया से छूटना है । हमारे देश तथा समाज के बड़ों ने जीवन में प्रवेश कर उसके बन्धनों को छिन्न-भिन्न कर उसमें से निकलने तथा अपने को स्वतंत्र करने का प्रयत्न किया, उन्होंने गृहस्थ में प्रवेश कर गृहस्थ को छोड़ा, वानप्रस्थ आश्रम में पग धरा । इसी प्रकार गृहस्थाश्रम को समाप्त कर हम भी समाज के भले, उसकी सेवा के लिए वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करें, गृहस्थ में ही न धँसे रहें । इस बात को याद दिलाने के लिए यज्ञोपवीत का तीसरा सूत्र हमें समाज के दिव्य पुरुषों द्वारा हम पर छोड़े गए ऋण की तरफ इंगित करता रहता है ।

११. वेदारम्भ संस्कार

उपनयन संस्कार के साथ-साथ एक दूसरा संस्कार होता है, जिसका नाम 'वेदारम्भ' है । वेदारम्भ का अर्थ है, वेदाध्ययन के प्रारंभ करने का संस्कार।

इस संस्कार के समय बालक को कहा जाता था- ''आज से तू ब्रह्मचारी है। शुद्ध रहने के लिए जल का भरपूर सेवन करते रहना। कभी ठाली मत बैठना, काम में लगे रहना। आलसी मत होना, दिन को मत सोना। आचार्य के अधीन रहकर विद्याभ्यास करना, आज्ञा का उल्लंघन न करना। एक-एक वेद का बारह वर्ष पर्यन्त अभ्यास करते हुए ४८ वर्ष तक विद्याभ्यास करने को अपना लक्ष्य बनाना। आचार्य भी अगर बुरी बात कहे तो मत मानना। क्रोध और अनृत को त्याग देना। अष्ट प्रकार के मैथुन की तरफ ध्यान न जाने देना। कठोर भूमि पर शयन करना। गाना-बजाना, तेल लगाना ये सब तेरे लिए वर्जित हैं। किसी बात में अति न करना - अति स्नान, अति भोजन, अति निद्रा, अति जागरण, निन्दा, लोभ, मोह, भय, शोक को छोड़ देना। रात के चौथे प्रहर में जाग कर, शौच से निवृत्त होकर दातुन करना, फिर स्नान, सन्ध्या, ईश्वर-स्तुति, प्रार्थना और योगाभ्यास करना। हजामत मत करना। मांस, रूखा भोजन और मद्यपान न करना। बैल, घोड़ा, हाथी, ऊँट की सवारी न करना। शहर में मत रहना, जूता और छत्री मत धारण करना। बिना इच्छा से या इच्छा पूर्वक कभी वीर्य स्खलन न होने देना, वीर्य की रक्षा करके उर्ध्वरेता बनना। तेल मलना, उबटन लगाना, अति खट्टा, अति तीखा, कसैला, क्षार, लवण और रेचक पदार्थों का सेवन न करना। आहार-विहार की सीमा में रहते हुए नित्य विद्या ग्रहण में यत्नवान् रहना। सुशील बनना, थोड़ा बोलना, सभ्यता सीखना। मेखला और दण्ड का धारण, भिक्षाचरण, अग्निहोत्र, स्नान, सन्ध्योपासन, आचार्य का प्रियाचरण, सायं-प्रातः आचार्य को नमस्कार, विद्या संचय, इंद्रियों का संयम, ये तेरे नित्य के काम हैं।'' यह उपदेश क्या है, वैदिक संस्कृति का निचोड़ है। जिस प्रकार आज हमारे विद्यार्थियों के जीवन में विलासिता बढ़ रही है, और उस विलासिता का जो दण्ड हमारा समाज भोग रहा है, उसे देखते हुए उन ऋषियों के चरणों में बरबस सिर झुक जाता है, जिन्होंने विद्यार्थी के सामने विद्याध्ययन करने के दिन ही ये उच्च आदर्श रखे थे। आज का बालक गली-मोहल्ले वाले दूसरे साथियों से आचार की शिक्षा-दीक्षा लेता है। वैदिक संस्कृति में गुरु का काम सिर्फ विद्या पढ़ा देना ही नहीं था वरन् सदाचारी व्यक्ति तैय्यार करना भी था।

१२. समावर्त्तन संस्कार

समावर्त्तन संस्कार उसको कहते हैं कि जो ब्रह्मचर्य व्रत, सांगोपांग वेद विद्या,

उत्तम शिक्षा और पदार्थ विज्ञान को पूर्ण रीति से प्राप्त होके विवाह विधान पूर्वक गृहस्थाश्रम को ग्रहण करने के लिए विद्यालय को छोड़कर घर की ओर आना।

जब बालक ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरुकुल में विद्याध्ययन समाप्त कर घर को लौटता था तब आचार्य उसे निम्न उपदेश देकर विदा करता था-

सत्यं वद – अब तू आश्रम के इस छोटे से संसार को छोड़कर समाज रूपी बड़े संसार में प्रवेश करने के लिए जा रहा है। वहाँ लोग तुझे कहेंगे कि दुनिया का व्यवहार तुम्हारे गुरुकुल के नियमों पर नहीं चलता। वे कहेंगे कि 'तूने गुरुकुल में हर बात में सच बोलने की सौगंध खाई थी, यहाँ झूठ भी चलता है। हर बात में सच पर डटे रहोगे, तो मुसीबत में पड़ जाओगे।' परंतु याद रखना झूठ तभी तक चलता है, जब तक लोग झूठ को भी सच समझते हैं। खोटा सिक्का तभी तक चलता जब तक उसे खरा समझा जाता है। ऊपरी तौर पर तुझे दिखाई देगा कि झूठ चल रहा है, परन्तु गहराई में जाओगे तो पता चलेगा कि झूठ की आयु थोड़ी है, सच की आयु अनन्त है।

धर्मंचर – आचार्य का दूसरा उपदेश यह है कि धर्म का आचरण करना। समाज में किस प्रकार बरतना चाहिए, किस प्रकार का व्यवहार अन्ततोगत्वा व्यक्ति, समाज तथा देश के हित में है, इस दृष्टि से अपने जीवन में सदा धर्म का पालन करना।

जिन नियमों से समाज का धारण होता है, जिन नियमों के आधार पर समाज टिका हुआ है वह धर्म है। 'वेद' में उन नियमों का, आचार-व्यवहार का वर्णन है, जिनके पालन करने से समाज बना रहता है, जिनका उल्लंघन करने से समाज छिन्न-भिन्न हो जाता है।

स्वाध्यायान्मा प्रमदः :– स्वाध्याय के दो अर्थ हैं एक उत्तम ग्रंथों का अध्ययन जिससे भौतिक, मानसिक तथा आत्मिक उन्नति हो, दूसरा 'स्व' अर्थात् अपने आप का अध्ययन।

हम दुनिया में क्यों आए ? यहाँ क्या करना है ? जीवन को कैसे सार्थक बनाना है ? यह सब कुछ उच्च कोटि के ग्रंथों के स्वाध्याय के बिना पल्ले नहीं पड़ सकता, इसलिए 'स्वाध्याय' में कभी प्रमाद न करना।

इसके साथ-साथ 'स्वाध्याय' के अपने अध्ययन के भाव को भी भुला मत देना। मनुष्य की सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि वह दुनिया भर का पता लगाता फिरता है, अपना पता भूला रहता है; दूसरों की कोठरी में झाँका करता है,

अपने भीतर नहीं झाँकता। मैं क्या हूँ, मेरा चाल-चलन कैसा है, मैंने दिनभर में क्या किया जो नहीं करना चाहिए था, क्या नहीं किया जो करना चाहिए था- इन सब का पता तो एकान्त में बैठकर अपने साथ बात करने से होगा। आचार्य स्नातक को उपदेश देता हुआ कहता है कि 'उत्तमोत्तम ग्रंथों का स्वाध्याय करना और साथ ही अपने भीतर झाँककर अपने को भी देखना - इससे तू पथभ्रष्ट नहीं होगा।'

आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः :-

आचार्य स्नातक को सम्बोधन करके कहता है कि आचार्य को जो धन प्रिय है, वह लाकर उसे देना, आचार्य की शिष्यों की जो प्रजा है, उसका तंतु= सिलसिला मत तोड़ देना। आचार्य का प्रिय धन रुपया पैसा नहीं है, आचार्य का धन उसके शिष्य हैं, यही उसकी प्रजा है, उसकी संतान है। जैसे तू शिक्षाध्ययन के लिए आया, इसी प्रकार तेरे अन्य कुटुम्बी, तेरे पुत्र-पौत्र भी आचार्य के पास विद्याध्ययन के लिए आते रहें।

श्रद्धया देयम्, अश्रद्धया देयम् :-

तू जब धन सम्पत्ति कमाने लगे तब जिस काम में श्रद्धा हो उसमें यथाशक्ति दान देना, श्रद्धा न भी हो तो भी दान देना, क्योंकि हो सकता है कि जिस कार्य में तेरी श्रद्धा न हो वह कार्य भी महान् हो। इसके अतिरिक्त धन सम्पत्ति क्या है और किसकी है ? धन तभी धन कहला सकता है जब वह किसी काम आ रहा हो, अन्यथा धन और ईंट-पत्थर एक समान हैं। जब तक धन से कोई काम नहीं लिया जाता, तब तक वह धन नहीं कहला सकता। अपने काम आने के बाद में जो बचे उसे श्रद्धा से अश्रद्धा से, जिस किसी भी तरह हो, दो, देने से धन का धनत्व बना रहता है।

ब्रह्मचर्य की अवधि - वसु, रुद्र, आदित्य :-

वसु-ब्रह्मचारी २४ वर्ष की आयु तक ब्रह्मचारी रहता है, रुद्र ब्रह्मचारी ३६ वर्ष तक तथा आदित्य ब्रह्मचारी ४८ वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करता है। अगर कोई आजन्म ब्रह्मचारी रहना चाहता है तो वह आजन्म ब्रह्मचारी रह सकता है, परन्तु उसके लिए व्यक्ति को पूर्ण विद्वान्, जितेन्द्रिय योगी होना जरूरी होता है, क्योंकि ऋषि दयानंद के शब्दों में यह बड़ा कठिन काम है कि काम के वेग को थाम कर इंद्रियों को अपने वश में रखना।

१३. विवाह संस्कार

विवाह उसको कहते हैं कि जो पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत, विद्याबल को प्राप्त तथा सब प्रकार के शुभ गुण-कर्म-स्वभावों में तुल्य, परस्पर प्रीतियुक्त होके, सन्तानोत्पत्ति और अपने-अपने वर्णाश्रम के अनुकूल उत्तम कर्म करने के लिए स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध होता है।

जितना दूर देश से विवाह होगा, उतना ही उनको लाभ अधिक होगा। अपने गोत्र व भाई-बहनों का परस्पर विवाह क्यों नहीं होता ? उसमें एक दोष यह है कि इनके विवाह होने में प्रीति कभी नहीं होगी। क्योंकि जितनी प्रीति परोक्ष पदार्थ में होती है, उतनी प्रत्यक्ष में नहीं। और बाल्यावस्था के गुणदोष भी विदित रहते हैं तथा भयादि भी अधिक नहीं रहते। दूसरा दोष यह है कि जब तक दूरस्थ एक दूसरे कुल के साथ सम्बन्ध नहीं होता, तब तक शरीर आदि की पुष्टि भी पूर्ण नहीं होती। तीसरा दोष है कि दूर सम्बन्ध होने से परस्पर प्रीति, उन्नति और ऐश्वर्य बढ़ता है, निकट से नहीं।

विवाह के पहले वधु-वर एक दूसरे के गुण-कर्म और स्वभाव की परीक्षा इस प्रकार करें -

दोनों का तुल्य शील, समान बुद्धि, समान आचार, समान रूपादि गुण, अहिंसकता, सत्य-मधुर भाषण, कृतज्ञता, दयालुता, निर्लोभता, देश का सुधार, विद्याग्रहण, सत्योपदेश करने में निर्भयता, उत्साह, अहंकार-मत्सर-ईर्ष्या-काम-क्रोध-कपट-द्यूत-चोरी-मद्य-मांसाहारादि दोषों का त्याग, गृहकार्यों में अति चतुरता हो। वर के शरीर से स्त्री का शरीर पतला और पुरुष के कंधे के तुल्य स्त्री का शिर होना चाहिए, तत्पश्चात् भीतर की परीक्षा स्त्री-पुरुष परस्पर बातचीत आदि व्यवहारों से करें। जो कन्या माता के कुल की छह पीढ़ियों में न हो और पिता के गोत्र की न हो, उस कन्या से विवाह करना उचित है।

सोलहवें वर्ष से लेकर चौबीसवें वर्ष तक कन्या, और पचीसवें वर्ष से लेके अड़तालीसवें वर्ष तक पुरुष का विवाह समय उत्तम है। इसमें जो सोलह और पचीस में विवाह करे तो निकृष्ट, अठारह-बीस की स्त्री और तीस-पैंतीस वा चालीस वर्ष के पुरुष का मध्यम, चौबीस वर्ष की स्त्री और अड़तालीस वर्ष के पुरुष का विवाह होना उत्तम है। जिस देश में इसी प्रकार विवाह की श्रेष्ठ विधि और ब्रह्मचर्य, विद्याभ्यास अधिक होता है वह देश सुखी और जिस देश में ब्रह्मचर्य विद्याग्रहणरहित बाल्यावस्था और अयोग्यों का विवाह होता है, वह देश दुःख में डूब जाता है। क्योंकि ब्रह्मचर्य विद्या ग्रहणपूर्वक विवाह के सुधार

ही से सब बातों का सुधार और बिगड़ने से बिगाड़ हो जाता है।

चाहे लड़का लड़की मरणपर्यन्त कुमार रहें, परन्तु असदृश अर्थात् परस्पर विरुद्ध गुण-कर्म-स्वभाव वालों का विवाह कतई न होना चाहिए। इससे सिद्ध हुआ कि न पूर्वोक्त समय से प्रथम वा असदृशों का विवाह होना योग्य है।

लड़का-लड़की के अधीन विवाह होना उत्तम है। जो माता-पिता विवाह करना कभी विचारें, तो भी लड़का-लड़की की प्रसन्नता के बिना न होना चाहिए क्योंकि एक दूसरे की प्रसन्नता से विवाह होने में विरोध बहुत कम होता है, और सन्तान उत्तम होते हैं। अप्रसन्नता के विवाह में नित्य क्लेश ही रहता है। विवाह में मुख्य प्रयोजन वर और कन्या का है, माता-पिता का नहीं, क्योंकि जो उनमें परस्पर प्रसन्नता रहे, तो उन्हीं को सुख और विरोध में उन्हीं को दुःख होता है।

जैसी स्वयंवर की रीति आर्यावर्त्त में परम्परा से चली आती है, वही विवाह उत्तम है। जब स्त्री-पुरुष विवाह करना चाहें, तब विद्या, विनय, शील, रूप, आयु, बल, कुल, शरीर का परिमाणादि यथायोग्य होना चाहिए। जब तक इनका मेल नहीं होता, तब तक विवाह में कुछ भी सुख नहीं होता, और न बाल्यावस्था में विवाह करने से सुख होता है।

१४. वानप्रस्थ संस्कार

वानप्रस्थ - संस्कार उसको कहते हैं कि जो विवाह से सन्तानोत्पत्ति करके, पूर्ण ब्रह्मचर्य से पुत्र भी विवाह करे, और पुत्र की भी एक सन्तान हो जाए अर्थात् जब पुत्र का भी पुत्र हो जाए, तब पुरुष वानप्रस्थ अर्थात् वन में जाकर तप और स्वाध्याय का जीवन व्यतीत करे। गृहस्थ लोग जब अपने देह का चमड़ा ढीला और श्वेत केश होते हुए देखें और पुत्र का भी पुत्र हो जाए तो वन का आश्रय लेवें।

वानप्रस्थाश्रम करने का समय ५० वर्ष के उपरान्त है। जब पुत्र का भी पुत्र हो जाए, तब अपनी स्त्री, पुत्र, भाई, बन्धु, पुत्र-वधु आदि को सब गृहाश्रम की शिक्षा करके वन की ओर यात्रा की तैयारी करे। यदि स्त्री चले तो साथ ले जावें, नहीं तो ज्येष्ठ पुत्र को सौंप जावें कि इसकी सेवा यथावत् करना और अपनी पत्नी को शिक्षा कर जावें कि तू सदा पुत्र आदि को धर्म मार्ग में चलाने के लिए और अधर्म से हटाने के लिए शिक्षा करती रहना।

आज हम गृहस्थ जीवन में इस प्रकार फँसे हैं कि इसमें से निकलते हुए दु:ख होता है। अधिकांश लोग इसी में पड़े-पड़े अपना जीवन समाप्त कर देते हैं। जिस किसी ने 'आश्रम' शब्द का प्रयोग किया था, उसने बड़े मतलब से इस शब्द का प्रयोग किया था। गृहस्थ एक 'आश्रम' है, एक मंजिल है, एक पड़ाव है। वैदिक काल के ऋषियों ने जीवन को एक यात्रा समझा था और उस यात्रा के चार पड़ाव माने थे । यात्रा में ब्रह्मचर्याश्रम पहला पड़ाव समझा गया था, उसके बाद गृहस्थ की यात्रा थी, परन्तु इसके बाद एक और पड़ाव आता था, गृहस्थी गृहस्थ को छोड़कर आगे चल देता था। आज हम 'आश्रम' शब्द के इस रहस्य को भूल गए हैं। गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने के बाद इसमें से निकलने का नाम नहीं लेते। हम इस प्रकार गृहस्थाश्रम में डटते हैं मानो अनन्त काल तक हमें जीना हो। जिन्दगी का बीमा ३०-३५ साल का होता है, परन्तु हम अपने दिल में ऐसा बीमा किए बैठे हैं मानो हमें कभी मरना ही नहीं। गृहस्थ में पड़कर हम भूल जाते हैं कि हमें इसमें से निकलना भी है। वैसे तो यहाँ जो आया है उसे जाना भी है, परन्तु गृहस्थ एक ऐसा व्यूह है जिसमें अभिमन्यु की तरह मनुष्य प्रवेश तो कर लेता है, इसमें से निकलना भूल जाता है। हम अन्त समय तक संसार की चिंताएं करते रहते हैं। वैदिक संस्कृति को मानने वाले ५० साल की आयु में घर-गृहस्थी का भार बाल-बच्चों पर छोड़कर जीवन यात्रा में अगली राह पर चल देते थे, आज ऐसा नहीं करते। सराय का नियम होता है कि उसमें ५ या ७ दिन ठहरने की इजाजत होती है। जो सराय में उससे अधिक दिन ठहरता है उसे सराय का मुन्शी पहले तो इशारे में समझाता है, कोई ढीठ इशारे को नहीं समझता तो उसे स्पष्ट कह देता है और इतने पर भी कोई न माने तो उसका सामान उठवा कर बाहर फेंक देता है। जीवन एक यात्रा है, इसमें हमें आगे-आगे जाना है, भले ही हम चाहें या न चाहें। जो भले मानस गृहस्थ के बाद स्वयं आगे चल देते हैं, उनकी मान-मर्यादा प्रतिष्ठा बनी रहती है, जो ऐसा नहीं करते उन्हें सराय का मालिक धक्के मार कर निकाल देता है। आज जो लोग गृहस्थ में से निकलकर अगले रास्ते पर चलने की उम्र के हो गए हैं वे अपने भीतर मुँह डाल कर देखें, उनके साथ भी ऐसा ही बर्ताव हो रहा है या नहीं। उन्हीं के अपने लड़के, उन्हीं की बहुएं, उन्हें कोसती हैं, कहती हैं बुड्ढा न जीता न मरता है। बहुओं की अपनी सासों से क्यों नहीं बनती ? इसलिए, क्योंकि सास घर में इस प्रकार रहना चाहती है मानो वही बहू हो। बुढ़ापे में अपने पिता के साथ लड़के की क्यों नहीं बनती ? क्योंकि पिता आखिरी दम तक पड़ा-पड़ा लड़कों को बोझ मालूम पड़ने लगता है। जिस

माता-पिता ने हमें पाला, वे अगर बोझा भी हो जाएं तो सन्तान का कर्त्तव्य है कि उनकी सेवा करे, आखिर माता-पिता के ऋण को कौन चुका सकता है। परन्तु यह तो सन्तान का कर्त्तव्य हुआ, किसी को कहना कि तुम्हारा कर्त्तव्य हमारी सेवा करना है, किसे अच्छा लगता है ? इसीलिए प्राचीन ऋषियों ने सन्तान के माता-पिता के प्रति ऋण को, जिसे पितृऋण कहते थे, चुकाने के लिये एक दूसरा मार्ग बतलाया था। उन्होंने यह मार्ग नहीं बतलाया कि माता-पिता वृद्ध होकर घर में चौकी पर बैठ जाएं, और पुत्र उनकी पूजा करें। माता-पिता के लिये उन्होंने यही कर्त्तव्य बतलाया कि वे गृहस्थ जीवन के बाद वानप्रस्थ हो जाएं, उनकी सन्तान पितृऋण को चुकाने के लिये गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे और अपने से उत्तम सन्तान संसार में छोड़ने का प्रयत्न करे। मनुष्य का स्वभाव है कि वह स्वतंत्रता चाहता है। अगर माता-पिता घर में बने रहें तो उनकी सन्तान को घर में स्वतंत्रता से अपनी इच्छानुसार काम करने का मौका नहीं मिलता और इसीलिए दुनिया में जिनकी सबसे अधिक बन सकती थी उन्हीं की इतनी बिगड़ जाती है कि आसपास के लोग तमाशा देखने के लिये इकट्ठे हो जाते हैं। माता-पिता अपने समय में घर के मालिक रहे, अब उन्हें अपनी सन्तान को मौका देना होगा। लेकिन हुकूमत ऐसी चीज है जिसे अपने हाथ से कोई किसी दूसरे को देने को तैयार नहीं होता। कोई छीन भले ही ले, परन्तु अपने हाथ से कौन दे ? इसीलिए आज चारों तरफ बाप-बेटे की, सास-बहू की लड़ाई दिखाई देती है। प्राचीन-ऋषियों ने वानप्रस्थ आश्रम द्वारा इस समस्या को हल कर दिया था। उन्होंने कहा था कि जब अन्त में दुनिया को छोड़ना ही है तो धक्के खाकर और बेइज़्ज़ती से छोड़ने के बजाय खुद क्यों न छोड़ा जाए ? वैसे तो संसार को भोगने की इच्छा हर एक में है, इसीलिए गृहस्थ आश्रम में उसे भोगने का मौका दिया गया है, परन्तु क्योंकि गृहस्थी अपने अनुभव से देख लेता है कि इन भोगों में कुछ नहीं पड़ा, इसलिए वह स्वयं इनसे मुड़ता है, उपराम लेता है। भोग भोगने के बाद भोग का छूटना अवश्यम्भावी है। मनुष्य के मन की इसी स्वाभाविक अवस्था को प्राचीन ऋषियों ने वैज्ञानिक रूप दिया था और इसी प्रवृत्ति का नाम वानप्रस्थाश्रम रखा था।

१५. संन्यास संस्कार

'संन्यास' का अर्थ है– 'सं + न्यास', अर्थात् अब तक जो लगाव का बोझ उसके कन्धों पर लगा रहा है उसे उठाकर अलग धर देना, उसका 'न्यास' कर देना, उसे छोड़ देना, 'सं + न्यास' - अर्थात् बिल्कुल उतारकर फेंक देना।

संन्यास-संस्कार उसको कहते हैं कि जो मोहादि आवरण, पक्षपात छोड़ के विरक्त होकर सब पृथिवी में परोपकारार्थ विचरे। संन्यास के ३ प्रकार हैं:

प्रथम प्रकार – क्रम संन्यास

ब्रह्मचर्य पूरा करके गृहस्थ और गृहस्थ होके वानप्रस्थ, वानप्रस्थ होके संन्यासी होवें, यह क्रम-संन्यास है। अर्थात् अनुक्रम से आश्रमों का अनुष्ठान करते-करते वृद्धावस्था में जो संन्यास लेना है उसी को 'क्रम-संन्यास' कहते हैं।

द्वितीय प्रकार – गृहस्थ या वानप्रस्थ से सीधा संन्यास

जिस दिन वैराग्य प्राप्त होवे उसी दिन चाहे वानप्रस्थ का समय पूरा भी न हुआ हो अथवा वानप्रस्थ आश्रम का अनुष्ठान न करके गृहाश्रम से ही संन्यासाश्रम ग्रहण करें, क्योंकि संन्यास में दृढ वैराग्य और यथार्थ ज्ञान का होना ही मुख्य कारण है।

तृतीय प्रकार – ब्रह्मचर्य से सीधा संन्यास

पूर्ण अखण्डित ब्रह्मचर्य, सच्चा वैराग्य और पूर्ण ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त होकर विषयासक्ति की इच्छा आत्मा से उठ जावे, पक्षपात रहित होकर सबके उपकार करने की इच्छा होवे, और जिसको दृढ़ निश्चय हो जावे कि मैं मरणपर्यन्त यथावत् संन्यास धर्म का निर्वाह कर सकूंगा तो वह न गृहस्थाश्रम करे, न वानप्रस्थाश्रम, किन्तु ब्रह्मचर्याश्रम को पूर्ण कर ही संन्यासाश्रम को ग्रहण कर लेवे।

'संन्यास' राग-द्वेष, मोह-ममता छोड़ने का नाम है। संन्यास लेने के बाद घरवालों के लिये मनुष्य मर जाता था। कभी-कभी तो घरवालों को पता भी नहीं होता था कि उनके सूत्र का कर्णधार कहाँ गया। मरना सबको है। संन्यासी मृत्यु के बहुत निकट पहुंच चुका होता था। मरकर तो संसार को छोड़ना ही पड़ता है, संन्यासी जीते-जी मरने का मजा लूट लेता था और पल्ला झाड़कर दुनिया से चलने के लिये हर वक्त तैयार रहता था। उसके तन पर पड़ा भगवा कपड़ा हर समय उसे आग की उन लपटों की याद दिलाता था, जिनमें पड़कर अन्त समय में सबको पांच तत्त्वों में मिल जाना है। संन्यास जीते-जी चिता में जल जाना था।

संन्यासी के कर्त्तव्य – न तो अपने जीवन में आनंद और न अपनी मृत्यु में दुःख माने, किन्तु जैसे क्षुद्र-भृत्य अपने स्वामी की आज्ञा की बाट देखता रहता है वैसे ही काल और मृत्यु की प्रतीक्षा करता रहे।

इस संसार में आत्मनिष्ठा में स्थित, सर्वथा अपेक्षारहित, मांस मद्यादि का त्यागी, आत्मा के सहाय से ही सुखार्थी होकर विचरा करे और सबको सत्योपदेश करता रहे ।

सब शिर के बाल दाढ़ी-मूंछ और नखों को समय-समय छेदन करता रहे। पात्री, दण्डी और कुसुंभ के रंगे हुए वस्त्रों को धारण किया करे । सब भूत-प्राणीमात्र को पीड़ा न देता हुआ दृढ़ात्मा होकर नित्य विचरा करे ।

जो संन्यासी बुरे कामों से इंद्रियों के निरोध, राग-द्वेषादि दोषों के क्षय और निर्वैरता से सब प्राणियों का कल्याण करता है, वह मोक्ष को प्राप्त होता है ।

यदि संन्यासी को मूर्ख संसारी लोग निन्दा आदि से दूषित व अपमान भी करें, तथापि धर्म ही का आचरण करे। ऐसे ही अन्य ब्रह्मचर्याश्रमादि के मनुष्यों को करना उचित है। सब प्राणियों में पक्षपातरहित होकर समबुद्धि रखे। इत्यादि उत्तम काम करने के लिये संन्यासाश्रम की विधि है किन्तु केवल दण्डादि चिह्न धारण करना ही धर्म का कारण नहीं है ।

संन्यासी जगत् के सम्मान से विष के तुल्य डरता रहे, और अमृत के समान अपमान की चाहना करता रहे, क्योंकि जो अपमान से डरता और मान की इच्छा करता है वह प्रशंसक होकर मिथ्यावादी और पतित हो जाता है। इसलिए चाहे निन्दा चाहे प्रशंसा, चाहे मान चाहे अपमान, चाहे जीना चाहे मृत्यु, चाहे हानि चाहे लाभ हो, चाहे कोई प्रीति करे चाहे बैर बाँधे, चाहे अन्न-पान-वस्त्र उत्तम स्थान न मिले वा मिले, चाहे शीत-उष्ण कितना ही क्यों न हो, इत्यादि सबका सहन करे और अधर्म का खण्डन तथा धर्म का मण्डन सदा करता रहे।

सर्वदा (अहिंसा) निर्वैरता, (सत्यम्) सत्य बोलना, सत्य मानना, सत्य करना, (अस्तेयम्) मन-कर्म-वचन से अन्याय करके पर-पदार्थ का ग्रहण न करना चाहिए, न किसी को करने का उपदेश करें, (ब्रह्मचर्यम्) सदा जितेन्द्रिय होकर अष्टविध मैथुन का त्याग रखके वीर्य की रक्षा और उन्नति करके चिरंजीवी होकर सबका उपकार करता रहे, (अपरिग्रहः) अभिमानादि दोष रहित, किसी संसार के धनादि पदार्थों में मोहित होकर कभी न फँसे । इन पांच यमों का सेवन सदा किया करे और इनके साथ पांच नियम अर्थात् (शौच) बाहर-भीतर से पवित्र रहना, (संतोष) पुरुषार्थ करते जाना और हानि-लाभ में प्रसन्न तथा अप्रसन्न न होना, (तपः) सदा पक्षपात रहित न्याय रूप धर्म का सेवन प्राणायामादि योगाभ्यास करना, (स्वाध्याय) सदा प्रणव का जप अर्थात् मन में चिन्तन और उसके अर्थ ईश्वर का विचार करते रहना, (ईश्वरप्रणिधान) अर्थात् अपने आत्मा को वेदोक्त परमेश्वर की आज्ञा में समर्पित करके परमानन्द

परमेश्वर के सुख को जीता हुआ भोगकर व शरीर छोड़ के सर्वानन्दयुक्त मोक्ष को प्राप्त होना ये संन्यासियों के मुख्य कर्म हैं ।

१६. अन्त्येष्टि संस्कार

अन्त्येष्टि कर्म उसको कहते हैं जो शरीर के अन्त का संस्कार है । इसके आगे उस शरीर के लिये कोई भी अन्य संस्कार नहीं है । इसी को नरमेध, नरयाग, पुरुषयाग कहते हैं ।

यह कल्पना कि मरने के बाद आत्मा 'यमलोक' को जाता है-एक मिथ्या कल्पना है । इस कल्पना का आधार गरुड़ पुराण आदि में यमलोक का वर्णन है, परन्तु यह बात वेदों के 'यम' शब्द को न समझने के कारण उत्पन्न हुई है । वेदों में 'यम' शब्द का प्रयोग अनेक पदार्थों के लिये हुआ है । जिसे न समझकर 'यम' का अर्थ 'यमलोक' कर दिया गया है । यम का एक अर्थ है-नियमन करने वाला, अनुशासन में रखने वाला ।

आत्मा, मरने के बाद वाय्वालय, अर्थात् अंतरिक्ष का जो यह पोल है, उसमें जाता है और यथासमय अपने कर्मों के अनुसार जन्म को ग्रहण करता है ।

विश्व भर के लोग मरने पर मृतक शरीर को पृथ्वी, जल, अग्नि व वायु इन तत्त्वों में से किसी एक की भेंट कर देते हैं । जो लोग गाड़ते हैं वे पृथिवी को, जो जल-प्रवाह कर देते हैं वे जल को, जो दाह-कर्म कर देते हैं वे अग्नि को और जो शव को खुले में छोड़ देते हैं वे मृतक को वायु को भेंट कर देते हैं। सोचने की बात यह है कि इन सब में से वैज्ञानिक विधि कौन सी है ।

यूरोप में शव दाह कानून- १९०२ में इंग्लैंड में पहले-पहले शवदाह विधेयक पास हुआ । इसके पास होने के बावजूद शवदाह के लिये इने-गिने व्यक्ति ही तैयार होते थे । इस दिशा में विशेष प्रगति द्वितीय विश्व युद्ध के समय में हुई। मरने वालों की संख्या इतनी अधिक थी कि दफनाने की तंगी अनुभव होने लगी क्योंकि इनके लिये भूमि पर्याप्त नहीं थी । इंग्लैंड में यह अनुभव किया जाने लगा कि मुर्दों को भूमि में गाड़ना भूमि का दुरुपयोग करना था । इससे दाह करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलने लगा । २०वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से शव गृहों में जलाये जाने वाले मृतकों की संख्या ३ लाख प्रतिवर्ष बढ़ने लगी। इसका अर्थ यह है कि इंग्लैंड में जितने व्यक्ति मरते थे उनमें से आधे जलाए जाने लगे । इस बीच दाह-गृहों (Crematorium) की संख्या १९० तक पहुंच गई ।

इंग्लैंड में मृतकों के दाह-कर्म के देखा-देखी यूरोप के अन्य देशों में शव-दाह का अनुकरण होने लगा। स्कैन्डे नेवियन देशों, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड में ३० प्रतिशत मुर्दे जलाये जाने लगे। अमरीका में शव-दाह का सूत्रपात १८७६ में हुआ। अमरीका की 'शवदाह संस्था' (Cremation Association of America) के आंकड़ों के अनुसार २०वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अमरीका में २३० शव-दाह-गृह बन चुके थे और १९७० में एक वर्ष में ८८,००० (अठासी हजार) मृतकों का दाह संस्कार हुआ था। यूरोप तथा अमरीका में १९७३ से प्रत्येक देश में अपनी-अपनी 'राष्ट्रीय शवदाह संस्थाएं' बन गईं और वे आपस में विचार विनिमय कर सकें इस आशय से एक 'अन्तर्राष्ट्रीय शव दाह संगठन (International Cremation Federation) की भी स्थापना हो गई, जिसका मुख्य कार्यालय लंदन में है। यह संगठन त्रिवार्षिक कांफ्रेंसें करता रहता है, जिनमें शवदाह को प्रोत्साहन देने के कार्यक्रमों पर विचार होता है।

मुर्दों को गाड़ने तथा जलाने पर तुलना

(१) मृत-शरीर को जलाने से भूमि बहुत कम खर्च होती है। कब्रों से स्थान-स्थान पर बहुत सी भूमि घिर जाती है।

(२) कब्रिस्तान के कारण बहुत से लोग वायु मण्डल को दूषित कर देते हैं। वायु के दूषित होने से वह फैल कर समाज में रोग फैलने का कारण बनती है। मुर्दों को जला देने से यह नहीं होता।

(३) जो जल कब्रिस्तान के पास होकर जाता है वह रोग का कारण बन जाता है। जलाने से ऐसा नहीं होता।

(४) कुछ पशु मृत-शरीर को उखाड़कर खा जाते हैं और रोगी शरीर को खाने से वे स्वयं रोगी बनकर मनुष्यों में भी रोग फैलाते हैं। जलाने से यह बुराई नहीं होती।

(५) कुछ कफन-चोर कब्र खोदकर शरीर का कफन उतार लेते हैं। इस प्रकार मृतक के संबंधियों के मनोभावों को ठेस पहुंचती है। मृतक को जला देने से ऐसा नहीं हो सकता।

(६) लाखों बीघा जमीन संसार में कब्रिस्तान के कारण रुकी पड़ी है। जलाना शुरू करने से यह खेती तथा मकान बनाने के काम आएगी। जिन्दों के लिये ही जमीन थोड़ी पड़ रही है, उसे मुर्दों ने घेर रखा है।

(७) दरगाहों की समाधि पूजा, कब्रों की पूजा, पीरों की पूजा, मुर्दों की पूजा अनेक प्रकार के पाखंड मुर्दों को जला देने से खत्म हो जाएंगे।

(८) बहुत से पुजारी जिनका पेशा यही है कि कब्रों, दरगाहों का चढ़ावा खाएं, वे लाभदायक काम पर लग कर समाज के लिये उपयोगी व्यक्ति बनेंगे।

(९) इन मजारों की पूजा करने, चढ़ावा चढ़ाने और आने-जाने में जो करोड़ों रुपया व्यर्थ का व्यय होता है वह बच जाएगा।

(१०) सैकड़ों दरगाहों और मकबरे ऐसे हैं जो हजारों नहीं लाखों रुपयों की लागत से बने हैं। इस प्रकार जो करोड़ों रुपया अनावश्यक खर्च होता है वह बचकर शिक्षा, स्वास्थ्य रक्षा आदि उपयोगी कार्यों पर व्यय हो सकेगा।

(११) अनेक पतित लोग मुर्दों को उखाड़कर उनके साथ कुकर्म करते पकड़े गए हैं। इन मुर्दों की ऐसी दुर्गति नहीं होगी। कुछ तकियों और हिन्दू समाधियों पर चरस, गांजा, अफीम और शराब पी जाती है - ये दुराचार तथा भ्रष्टाचार भी नहीं होंगे।

इसलिए स्वास्थ्य रक्षा के विचार से, भूमि की कमी के विचार से, रुपये की बचत के विचार से और सदाचार के विचार से भी मुर्दों को गाड़ने की अपेक्षा जलाना ही उचित है।

ऋषि दयानन्द ने इन सब विधियों पर विचार करते हुए सत्यार्थ प्रकाश में प्रश्नोत्तर के रूप में जो कुछ लिखा है वह इन सब रीतियों पर थोड़े से गिने-चुने शब्दों में प्रकाश डालता है। वे लिखते हैं -

प्रश्न - जलाना, गाड़ना, जल-प्रवाह करना और जंगल में फेंक देना-इन चारों में से कौनसी बात अच्छी है ?

उत्तर- सबसे बुरा गाड़ना है, उससे कुछ थोड़ा बुरा जल में डालना है, क्योंकि उसको जल-जन्तु उसी समय चीर-फाड़कर खा जाते हैं, परन्तु जो कुछ हाड़ व मल जल में रहेगा वह सड़कर जगत् को दुःखदायक होगा। उससे कुछ एक थोड़ा बुरा जंगल में छोड़ना है, क्योंकि यद्यपि उसको माँसाहारी पशु-पक्षी नोच खाएंगे तथापि जो उसके हाड़ की मज्जा और मल सड़कर दुर्गन्ध करेगा उतना जगत् का अनुपकार होगा और जो जलाना है वह सर्वोत्तम है, क्योंकि उसके सब पदार्थ अणु होकर वायु में उड़ जाएंगे।

शरीर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश इन पांच भूतों का बना है। इसलिये मरने के बाद शरीर के इन पांचों भूतों को जल्दी से जल्दी सूक्ष्म करके अपने मूल रूप में पहुँचा देना ही वैदिक पद्धति है। अग्नि द्वारा दाह-कर्म ही एक ऐसा साधन है जिससे मृत-देह के सब तत्त्व शीघ्र ही अपने मूल रूप में पहुंच जाते हैं।

इस पुस्तिका में संस्कार विधि-'स्वामी दयानन्द सरस्वती', संस्कार चन्द्रिका सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, संस्कार विधि विमर्श - अत्रिदेव विद्यालंकार की पुस्तकों से सहयोग लिया गया है।

दर्शन योग महाविद्यालय द्वारा प्रकाशित एवं वितरित पुस्तक-पुस्तिकाएँ, कैलेण्डर, पत्रक आदि साहित्य की सूची

१. सत्यार्थ प्रकाश (गुजराती)
२. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका (गुजराती)
३. उपदेश मंजरी (गुजराती)
४. 'आत्म कथा' - महर्षि दयानन्द (गुजराती)
५. विशुद्ध मनुस्मृति (गुजराती)
६. योगमीमांसा (हिन्दी, गुजराती, मलयालम, कन्नड, उडिया, तेलगु, अंग्रजी)
७. सरल योग से ईश्वर साक्षात्कार (हिन्दी, गुजराती, तेलगु, अंग्रेजी)
८. ब्रह्म विज्ञान (हिन्दी, गुजराती)
९. अध्यात्म सरोवर (हिन्दी, गुज.) भाग-१
१०. अध्यात्म सरोवर (हिन्दी) भाग - १ एवं २
११. योग दर्शनम् (हिन्दी)
१२. तत्त्व ज्ञान (हिन्दी, गुजराती)
१३. क्रियात्मक योगाभ्यास (हि., गुज., अं.)
१४. ईश्वर सिद्धि (हिन्दी, अंग्रेजी)
१५. आर्यों के सोलह संस्कार
१६. सचित्र दार्शनिक निबंध (हिन्दी, गुजराती)
१७. विवेक वैराग्य श्लोक संग्रह (हिन्दी, गुजराती)
१८. भक्ति गीत
१९. पीड़ित गोमाता के उपकार (हिन्दी, गुजराती)
२०. मेरा संक्षिप्त जीवन परिचय (स्वामी सत्यपतिजी)
२१. अष्टांग योग (हिन्दी, गुजराती)
२२. दैनिक संध्योपासना विधि-अर्थ सहित (गुजराती)
२३. दैनिक यज्ञ विधि-अर्थ सहित (गुजराती)
२४. योग दर्शन व्यासभाष्य सहित (गुजराती)
२५. आपणां संप्रदायो (गुजराती)
२६. पर्यावरण प्रदूषण (हिन्दी, गुजराती, अंग्रेजी)
२७. प्रेरक वाक्य (हिन्दी, गुजराती)
२८. आसन-व्यायाम (हिन्दी, गुजराती)
२९. सत्यार्थ प्रकाश की तेज धारायें (हिन्दी, गुजराती)
३०. अद्वैतवाद-एक विवेचन
३१. स्नातकों का परिचय तथा उपलब्धियाँ
३२. आयुर्वेदिक सरळ उपचार
३३. वैदिक वीर गर्जना (गुज.)
३४. वेदान्ति ध्वान्त निवारण (गुज.)

कैलेण्डर

३५. गायत्री मंत्र (हिन्दी, गुजराती)
३६. ऋषियों का संदेश (हिन्दी, गुजराती)
३७. संध्या सार (हिन्दी, गुजराती)
३८. वेदों में गाय की महिमा (हिन्दी, गुजराती)
३९. आर्य समाज के दस नियम (गुजराती)
४०. ईश्वर प्रणिधान वाक्य
४१. काल गणक पत्रक (प्रतिवर्ष)
४२. महर्षि दयानन्द (चित्र)

पत्रक

४३. दर्शन योग महाविद्यालय (संक्षिप्त परिचय)
४४. वैदिक धर्म (संक्षिप्त परिचय)
४५. क्रोध को कैसे दूर करें ?
४६. झूठ बोलने से हानि एवं सत्य बोलने से लाभ
४७. अग्निहोत्र (हिन्दी, गुजराती)
४८. आसन व्यायाम (हिन्दी, गुजराती)

मुख्य वितरक

आर्य रणसिंह यादव
द्वारा डॉ. सद्गुणा आर्या
'सम्यक्', गांधीग्राम, जूनागढ़-३६२००१ (गुजरात)